श्यामा सपर्या वासना

प्रकाशक

देवीदत्त शुक्ल स्मारक
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
प्रयाग—८

साधनमाला--१-२-३ मणियाँ

श्रीश्यामा-सपर्या-वासना

लेखक

श्री श्यामानन्द नाथ

४=५०

प्रकाशक

पता—कल्याण मन्दिर, कटरा, प्रयाग—६

द्वितीय संस्करण]   संवत् २०१४   [मू० २॥), सजि० ३)

विषय-सूची

१—विषय प्रवेश	...	...	१
२—पूर्वपीठिका	...	...	१६
३—प्रथम खण्ड	...	...	३२
४—द्वितीय खण्ड	...	...	४६
५—तृतीय खण्ड	...	...	५६
६—चतुर्थ खण्ड	...	...	६५
७—पञ्चम खण्ड	...	...	७५
८—षष्ठ खण्ड	...	...	६०
९—सप्तम खण्ड	...	...	१०५
१०—अष्टम खण्ड	...	...	११६
११—नवम खण्ड	...	...	११६
१२—दशम खण्ड	...	...	१२३

विषय-प्रवेश

ब्रह्मरूपिणी श्रीआद्या की परापूजा ब्रह्मोपासना है, जिसके द्वारा ब्रह्मस्वरूप और आत्मास्वरूप का ज्ञान होता है। यह योग और दर्शन का शुष्क निदिध्यासन नहीं है। यह आर्द्र निदिध्यासन है। यह श्रुति से प्रतिपादित होने से सर्वग्राह्य है। अन्य दर्शनों में जहाँ प्रपञ्च-विभीषिका का खुला वर्णन है, वहाँ शाक्तदर्शन में प्रपञ्च को भी आनन्दमयी की मिथुन-सामरस्य आनन्दलीला का अंश सिद्धकर निदिध्यासनरूपी पूजा को सरस बना दिया है। अतएव 'यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगो, यत्रास्ति भोगो नहिं तत्र मोक्षः। श्रीसुन्दरीपूजन-तत्पराणां मोक्षश्च भोगश्च करस्थ एव।' अक्षरशः सत्य है। यह कुलमार्ग है, जो योगियों के लिए भी कठिन है। क्योंकि परमतत्व की विवेचना अन्य दर्शनों में अधूरी है।

पूजा तीन प्रकार की है—(१) परा (उत्तमा) (२) पराऽपरा (मध्यमा) (३) अपरा (अधमा) मेरुतन्त्र में इन्हें क्रमशः शुद्ध, मिश्र और गलित के नामों से कहा है।

परापूजा में द्वैत-भावना का सर्वथा अभाव है। इसमें प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया पूजा ही है। यह सात्विक उपासना है। इसमें केवल मानसिक क्रियाएँ हैं। परापूजा में अद्वैत-भावना का सर्वथा अभाव है। साध्य और साधक में द्वैत-भाव तो रहता ही है अपितु प्रत्येक धर्म का भेद-भाव धर्मी से रहता है। और पराऽपरा पूजा अर्थात् मध्या-

वस्था में द्वैत-भाव रहता भी है तो इसका लक्ष्य अद्वैतभाव में धीरे-धीरे बदल जाने का ही रहता है।

परापूजा का उपासक अपने प्रत्येक कर्म-द्वारा चिदचिन्मयी की पूजा करता है। वह जो बोलता है वही जप, उसकी अँगुलियों की क्रियायें मुद्रायें, उसका चलना ही प्रदक्षिणा, भोजन ही हवन, आत्मसमर्पण ही प्रणाम है। और भी जो क्रियाएँ वह करता है, वह पराम्बा की पूजा ही होती है। योगदर्शन में इस अवस्था को ऋतम्भरा प्रज्ञावस्था कहा है। इसमें नाम और रूप का भाव चित्‌ब्रह्म में लय हो जाता है, जिससे साधक को सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का भाव होता है। ऐसे साधक उत्तम अधिकारी कहलाते हैं; जिनकी एक संज्ञा दिव्य है और दूसरी है कौल।

इससे निम्नश्रेणी की है पराऽपरा पूजा। यह मध्यम श्रेणी की है। इसमें पूरी अद्वैत-भावना नहीं रहती है, परन्तु इसके अभ्यास से क्रमशः अद्वैत-भावना की प्राप्ति होती है। यह मध्यम अधिकारियों अर्थात् वीर-भाववालों के लिए है। इसमें सूक्ष्मार्थ भाव लेकर ही सब क्रिया की जाती है। इसलिए इसका एक नाम निदिध्यासन भी है। इसी को लक्ष्य में रख यह पुस्तक लिखी जा रही है।

पराऽपरा पूजा को मिश्रपूजा कहते हैं, जो राजसी है। इसको मेरुतन्त्र ने सामीप्यकारिका पूजा की संज्ञा दी है। सामीप्यकारिका के दो मतलब हैं। एक तो पञ्चमुक्तियों की सामीप्य मुक्ति और दूसरी अद्वैत-भावना को देनेवाली पूजा। इससे आधिदैविक और आध्यात्मिक इन दो तापों का नाश होता है। अर्थात् भोग और मोक्ष दोनों की देनेवाली है। यह मिश्रपूजा है अर्थात् अन्तर्यजन और वहिर्यजन मिला हुआ है

अन्तर साधन में असमर्थ होने से बाह्यपूजा अर्थात् बाह्य उपचारों से पूजा करना चाहिये।

अपरापूजा सबसे नीची श्रेणी की है। इसमें अज्ञान की प्रधानता है। इसमें द्वैत-भाव रहता है। यह पहली सीढ़ी है मुक्तिभवन की।

पूजा यज्ञ वा यजन है। इसको सपर्य्या भी कहते हैं। यह उपासना का एक विशेष रूप है। आद्या की उपासना से कैवल्य मुक्ति होती है। इसको ब्रह्मात्म्यैक्य चिदुपास्ति कहते हैं। इससे चिदादित्य का प्रकाश दिखाई देता है, जिससे साधक काली वा ब्रह्ममय हो जाता है।

इस उपास्ति के तीन अङ्ग हैं—मन्त्र, रूप (मूर्ति या चक्र) और क्रिया या पूजा। जिस प्रकार पूर्ण ज्ञान के लिए सब अंगों का ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही उपासना के ज्ञान के लिए इसके सब अङ्गों का ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही उपासना के ज्ञान के लिए इसके सब अङ्गों का जानना जरूरी है। इसलिए साधक को गुरु-द्वारा मन्त्र, रूप (ध्यान) और क्रिया (उपचार) का रहस्य अवश्य जानना चाहिये। ये रहस्य सांकेतिक शब्दों में छिपे हैं, केवल गुरु द्वारा ही समझे जा सकते हैं। वे यहाँ संक्षेप में लिखे जाते हैं।

मंत्र-रहस्य वा मन्त्र संकेत

मन्त्र ही उपासना के तीन अङ्गों में मुख्य है। यह ध्यान, मूर्त्ति वा चक्ररूप का आधार है। मूर्त्ति मन्त्र की अर्थभावना है। इससे रूप का ज्ञान होता है। वाङ्मनसगोचर ब्रह्म का ज्ञान मन्त्र से ही होता है। मन्त्र से ही अरूपा आद्या की मूर्त्ति की कल्पना होती है। मन्त्रभेद से ध्यानभेद होता है। प्रत्येक साकार ब्रह्म का एक-एक मूलमन्त्र होता है, जिसके असंख्य

भेद होते हैं। मूलस्वरूप का ज्ञान देनेवाला मूलमन्त्र कहलाता है। मन्त्र और विद्या एक ही वस्तु है। मन्त्र जब स्त्री-लिंगात्मक होता है तो उसको विद्या कहते हैं। आद्या की उपासना की विद्याराज्ञी (मन्त्रराज) द्वाविंशाक्षरी है। इसका तत्व बहुत ही गहन है। यह त्रिवेद से परे है। ब्रह्म का प्रतिपादन तो अथर्वण-वेद है। ऋक्, यजु और साम में केवल समास रूप में है। गायत्री अर्थात् ब्रह्म के चार पादों में इन तीनों में तीन ही पादों का प्रतिपादन है। चौथे मोक्षपाद 'परो रजसे सावदोम्' का प्रतिपादन अथर्वण में ही है। अस्तु, वेदशीर्ष में इस विद्याराज्ञी का इस प्रकार उद्धार है—

इस मन्त्रराज में प्रथम तीनों महाविद्याओं के वीज हैं। सर्वप्रथम कालीवीज अर्थात् 'क्रीं' तीन बार है। तब तारावीज अर्थात् 'हूं' दो बार है और तब रक्तकाली अर्थात् त्रिपुरसुन्दरी-वीज अर्थात् 'ह्रीं' लज्जा वा मायावीज है, जो दो बार है।

कालभय अर्थात् भवबन्धन को काटनेवाली 'क्रीं' वीज-रूपिणी काली है। वीज का सूक्ष्मार्थ इस प्रकार है—'क्रीं' क+र+ई+म् से बना है। 'क' धर्म देनेवाला है, 'र' काम देनेवाला, 'ई' अर्थ देनेवाला और 'म्' मोक्ष देनेवाला है। इनको एकत्र करके उच्चारण करने से कैवल्य मुक्ति होती है। इसी प्रकार 'हूं' तारावीज है। क्योंकि तारा हूंकारवीज से उत्पन्न है। हूं को क्रोधवीज भी कहते हैं। गुण का आरम्भ यहीं से हुआ है। इसी हेतु आद्या की यह शक्ति है। 'ह्रीं बीजं हूं शक्तिः क्रीं कीलकम्।' 'ह्रीं' महात्रिपुरसुन्दरी का द्योतक है। यही कामकला है। ह्रीं का एक नाम मायावीज भी है। अर्थात् माया वा प्रपञ्च इसी से है।

यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि जिस प्रकार विभिन्न-जातीय बीजों से एक तरह की लता नहीं हो सकती है, उसी

प्रकार क्रींकार, हूंकार, ह्रींकार वीजमन्त्रों से एकरूपा मूर्त्ति की कल्पना कैसे हो सकती है! इसका समाधान इससे होता है कि तीनों में भेद नहीं है। एक ही निष्कल ब्रह्म के निर्गुणद्योतक कृष्णकाली, शब्दब्रह्मद्योतक प्रणवरूपा तारा और कामकला-वा प्रपञ्चमूला रक्तकाली वा षोडशी है।

इसका रहस्य ऐसा है कि 'क्रीं' से चिद्ब्रह्मविद्या श्री-मद्दक्षिणकालिका ही सर्वरूपिणी ब्रह्मत्व सिद्ध है, शेष दोनों 'हूं' और 'ह्रीं' वीजद्वय से सर्वरूपिणी का सर्वाङ्गत्व अर्थात् चित् और अचित् उभय का समानाधिकरण्य से परिणामित्व, कर्त्तृत्व और कारणान्तरत्व का अनुपपन्न नहीं होता है। तात्पर्य्य कि चिदचिदात्मकत्व पूर्णरूप का ज्ञान होता है।

आद्या का एक ही कादिक्रम नहीं है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। जिस प्रकार आद्या पराशक्ति के असंख्य रूप हैं, वैसे ही उपासना के असंख्य क्रमात्मक मन्त्र-पटल हैं। परन्तु कादिक्रम के अतिरिक्त क्रोधादि, हादि, दादि, नादि, वागादि और प्रणवादि छः क्रम ही मुख्य हैं। इनमें कादिक्रम के अति-रिक्त और सब गौण हैं अतएव इनका यहाँ उल्लेख नहीं हुआ। तत्-तत् आम्नाय के तत्तत् मन्त्र हैं। अस्तु इस मन्त्रराज वा विद्याराज्ञी 'क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं दक्षिणे कालिके क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा ७ का संक्षेप में यह अर्थ है कि 'हे दक्षिणे कालिके पूर्णचिदचिद्ब्रह्म, तुझमें स्वाहा वा समर्पित होता हूँ।' यों तो इसका अर्थ शास्त्रों में कथित है और यहाँ भी उल्लिखित हुआ है। परन्तु इसके तत्वज्ञाता केवल शिव—परमशिव ही हैं।

चक्ररहस्य वा संकेत

चक्र की पर्य्यायवाचक संज्ञा यन्त्र है। अतएव श्रीचक्र को श्रीयन्त्र भी कहते हैं। यंत्र का अर्थ यही है कि जो वस्तु

जीव वा अन्य पदार्थ का रहस्यमय सुकर परिचालन करे; वही यन्त्र है। हम देखते हैं कि दूर-वीक्षणयन्त्र द्वारा दूर की वस्तुओं को, जिनको बिना उस यन्त्र के नहीं देख सकते हैं, देखते हैं, अनुवीक्षण यन्त्र से सूक्ष्मातिसूक्ष्म को देखते हैं, इत्यादि। यन्त्र के अभाव में काम ही नहीं चलता। इसी तरह उस विराट् ब्रह्म और उसकी लीला की बिना यन्त्र की सहायता से भावना ही नहीं हो सकती।

चक्र और मूर्त्ति में भेद है। यद्यपि ये दोनों शिव तथा ऊपर शिव द्वारा कल्पित हैं परन्तु भेद यह है कि जहाँ मूर्त्ति वा ध्यानरहस्य-ज्ञान से उस निराकारा अमिताकारा अचिन्तनीया के यथार्थ रूप के ज्ञान में सहायता मिलती है, वहाँ चक्र वा यन्त्ररहस्य के ज्ञान से उसका पूर्ण अर्थात् आवरणशक्तिसहित (धर्मी के धर्म-सहित) ज्ञान होता है। अतएव जहाँ मन्दाधिकारी मूर्त्ति का आधार बना उपासना करते हैं, वहाँ मध्यमाधिकारी यन्त्र वा चक्र को आधार बनाते हैं। (उत्तमाधिकारी वा ज्ञानी को न मूर्त्ति की आवश्यकता है और न चक्र की। वह भावना-याग करता है)।

जिस प्रकार अरूपा की उपासना में सुविधा के लिए मूर्त्ति की कल्पना है, उसी प्रकार यन्त्र वा चक्र की कल्पना तत्तत रूपों की सावयवा है। यह संकेतमय है। अतएव संकेत के ज्ञान पर यन्त्र की उपयोगिता निर्भर करती है। आद्या के यन्त्र का उद्धार शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है—

आदौ त्रिकोणं विन्यस्य त्रिकोणं तद्बहिर्न्यसेत्।
ततो वै लिखेन्मन्त्री त्रिकोणत्रयमुत्तमम्॥
मध्ये तु वैन्दवं चक्रं मन्त्री तत्र विन्यसेत्।
षट्कोणात्तु वहिर्वृत्तं ततोऽष्टदलकं न्यसेत्॥

वहिर्वृत्तेन संयुक्तभूपुरैकेन संयुतम्।
ज्ञात्वैव मुक्तिमाप्नोति यन्त्रराजं न संशयः॥
—कालीतंत्रम्

यह यन्त्रराज निर्गुण ब्रह्म का द्योतक है। इसी प्रकार आद्या का ध्यान भी निर्गुणद्योतक है। यह यन्त्रराज श्रीविद्या के यन्त्र से भिन्न है। यह प्रपञ्चात्मक चक्र नहीं है अतएव श्रीचक्र से छोटा है।

चक्र उस निर्गुण ब्रह्म के शक्ति-विकाश का द्योतक है। मूलशक्ति तो एक है, जिसका व्यञ्जक विन्दु है। यह विन्दु वीजांकुरवत् है और चने की तरह दो अंशों में विभक्त है। इन दोनों अंशों को पुरुष-(काल) और स्त्री-(काली) कहें वा शक्तिमान् और शक्ति कहें, बात एक ही है। इनमें अभेद है। ब्रह्म का पुरुषरूप वा स्त्रीरूप कल्पनामात्र है। ब्रह्म का तीनों लिंग है अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक। वाच्यगोचर होने से ही लिंगात्मक कल्पना है। यह भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार। अर्थात् जिस भाव से उसकी उपासना करनी हो। किन्तु श्रुतियों के, जो सर्वमान्य प्रामाणिक महावाक्य हैं, गूढ़ मनन द्वारा विश्लेषण करने से स्त्रीलिंगात्मक कल्पना ठीक जान पड़ती है। दूसरे प्रकार से हम ऐसा भी कह सकते हैं कि निराकारोपासक लिङ्गरहित कहता है कारण आकार का ही लिंग है। साकारोपासक दो रूपों में मुख्यतया उपासना करता है। एक पुरुषरूप में यथा पिता, सखा, स्वामी, पुत्र, गुरु इत्यादि। दूस सर्वश्रेष्ठ मातृभाव से उपासना, जिससे बहुत शीघ्र इष्टसिद्धि होती है। अतएव जहाँ-जहाँ स्त्रीलिंग का प्रयोग है, वहाँ मातृभाववाली उपासना का सूचक है। अतएव शक्ति की प्रधानता सिद्ध होती है। यह तो सर्वत्र अर्थात् शाक्त, शैव, वैष्णव,

गाणपत्य सभी संप्रदायों में देखते हैं कि गौरीशङ्कर, राधाश्याम सीताराम, सिद्धिगणेश कहते हैं न कि शङ्करगौरी, श्यामराधा रामसीता, गणेशसिद्धि। प्रधान वा श्रेष्ठ का ही उल्लेख पहले होता है।

इसी विन्दुरूपिणी आद्या की स्फुरत्ता—'एकोऽहं बहुस्याम'—चक्रसम्भव है। आदि में बस यह एक थी। स्फुरत्ता जब हुई तब जगत् की रचना की। इसकी स्फुरत्ता ही इसकी विमर्शशक्ति है। इसको इच्छाशक्ति भी कहते हैं। इच्छा के बाद ज्ञान और ज्ञान के पश्चात् क्रिया, यही सृष्टिक्रम है। जगत्, जीव और पर उसी कारण प्रकाशशक्ति में हैं, जो निकलते हैं और पुनः प्रलयावस्था में उसी में चले जाते हैं।

इस प्रकार प्रपञ्च वा जगत्, जो कल्पित अध्यास है, चित्शक्ति की अधिष्ठान-सत्ता में लय हो जाता है और जीव के धर्माधर्म, अदृष्ट फलभोग के लिए इसकी पुनः सृष्टि होती है। इसको प्रबोध कहते हैं। इस प्रबोधन को अहन्ताभाव कहते हैं। अहन्ताभाव इदन्ताभाव का आश्रित है। यह सविकल्प है। परमेश्वरी का आत्मस्फुरण ही सृष्टि का, जिसमें वह अणुप्रवेश करती है, कारण है। यह जगत् उसका भोगायतन है क्योंकि यह पञ्चतत्वात्मक भोग्य पदार्थों से बना है। यह उसकी इच्छा वा मनोमय आनन्दसम्भोगार्थ सृष्टि है। यह प्रपञ्च शब्दमय और अर्थमय है। इसका विवरण कामकलाविलास और योगिनीहृदय में मिलता है। अतएव यह यन्त्रराज ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड दोनों का द्योतक है। इन्हीं दोनों अण्डों का एकीकरण चक्र-संकेत है। संक्षेप में इस प्रकार की व्याख्या शास्त्रों में कही गई है—

विन्दु परविन्दु है। श्रीचक्र के विन्दु की तरह पर, मिश्र और अपर तीनों नहीं है। वृत्ति अनिर्वाच्य अविद्या की द्योतिका

है। यह कारण उपाधि है। अष्टदलपद्म अष्टप्रकृति का द्योतक है अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार। पञ्चत्रिकोण हैं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ और पञ्चप्राण। इनको ही पञ्चदशी नित्या कहते हैं। प्राणब्रह्म की ये दशेन्द्रियाँ नित्य हैं और पञ्चप्राण भी। भूपुर पञ्चभूत के स्थूल शरीर का द्योतक है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि सृष्टिक्रम में विन्दु-घनीभूता उन्मनी-समनी शक्ति-द्वय वा शिवशक्त्यात्मक ब्रह्म है। पन्द्रहों कोण उसके पञ्चप्राणवायु और दश इन्द्रियाँ हैं। यह अनिर्वाच्य अविद्या से आवृत है, जो वृत्ति से बोध होती है। इसी अविद्यावृत्ति की आठ प्रकृतियाँ आठो दल हैं। इन्हीं का पञ्चीकरण होने से जगत् का स्थूल शरीर बनता है। इस भाव का द्योतक है भूपुर। इसके अधिष्ठातृ देवता दश दिक्पाल इन्द्रादि हैं।

ये ही आद्या ब्रह्म के आवरण (देवता) हैं। ये जलयन्त्रस्थ घटमालिकाजाल जैसे आद्याशक्ति के एक-एक रोमकूपान्तर में अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूप में भ्रमण करते हैं। इनका अन्तर और वाह्य रहस्य ब्रह्मज्ञान से समझ कर विविध, विचित्र, अनन्त, परम विभूत् समष्टि विशेषताओं को सम्यक् प्रकार से देखकर अति आश्चर्य-अमृतसागर में निमज्जन कर निरतिशयानन्द-पारावार होकर समस्त ब्रह्माण्डजाल का छेदन कर अमिता, अपरिच्छिन्ना, अनन्ततमराशि को लांघ कर मूला अविद्या की नगरी देखकर अर्थात् मूला अविद्या के यथार्थ स्वरूप को, आदि चिद्विद्या की विक्षेपशक्ति है, जानकर ही विविध विचित्र, अनन्त महामाया परिवेष्ठिता वाचातीता पूर्णब्रह्म आद्याशक्ति को पा सकते हैं।

यह चक्रराज ब्रह्माण्डद्योतक और पिण्डाण्डद्योतक दोनों है। पूर्वोक्त कथन से ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी आलोचना हुई। अब इसी प्रकार पिण्डस्थ वा शरीरस्थ चक्र का उल्लेख होता है। प्राण वा आत्मा के ब्रह्म होने से ब्रह्म को शरीरस्थ मानना पड़ेगा। नहीं तो काम नहीं चलेगा अर्थात् इष्ट सिद्ध नहीं होगा। अतएव देह को देवता का आलय कहते हैं। आलय को चक्र भी कहते हैं। यह चक्र शरीर में इस प्रकार है— ब्रह्मरन्ध्र है विन्दु, जो शीर्ष पर है। प्रथम त्रिकोण मस्तक में है। द्वितीय है आज्ञाचक्र के स्थान वा भ्रू मध्य में। तृतीय है विशुद्धिस्थान वा कण्ठ में। चतुर्थ है हृदय में। पञ्चम त्रिकोण है मणिपुर वा नाभि-प्रदेश में। स्वाधिष्ठान में अष्टदलकमल है। और मूलाधारचक्र में भूपुर है।

ब्रह्मरन्ध्र ही पराशक्ति आद्याब्रह्म का मुख्य स्थान है। यह उत्तमाधिकारी के लिए निर्दिष्ट है। मध्यमाधिकारी के लिए ललाट है और मन्दाधिकारी के लिए हृदय है।

षट्चक्रभेदन के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति का सूक्ष्मार्थ यही है कि ब्रह्म की आवरणशक्ति अर्थात् ब्रह्मज्ञान को ढकनेवाली जो विक्षेपशक्ति है, उसके परे होकर ही सहस्रदलस्थित ब्रह्मरन्ध्र में स्थित ब्रह्म से जीवात्मा का मेलन करना है। यही सब योगों का यथार्थ तात्पर्य्य है। मार्ग अलग-अलग हैं। उन-उन मार्गों के अधिकारी उन-उन साधनों द्वारा अपने-अपने लक्ष्य स्थान पर जाते हैं।

विन्दु का संकेतार्थ है वीजांकुर काल-कालीमय ब्रह्म। अब कालकाली से क्या बोध होता है, यह प्रश्न आता है। अतएव मूर्त्तिकल्पना आ जाती है। यह पराऽपरापूजा साधारा है। इसका आधार यन्त्र है, जिसका आधार मूर्त्ति है। ब्रह्म जब सगुण होता है तभी वाच्य होता है। सगुण का आकार वा

रूप वा मूर्त्ति होती ही है। इसका सङ्केतार्थ यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है—

काल है काली पूर्णब्रह्म की शक्ति। काली की व्यापक सतुछाया ही काल वा महाकाल है, जो काली की बिम्बाद्य-प्रतिबिम्ब की शक्ति है। काली ने अपनी कालशक्ति के द्वारा ही माया व प्रपञ्चेशी भुवनेश्वरी की सृष्टि की। काल की परिभाषा तन्त्रों में ऐसी है—

काल ही सूर्य्य के रूप में अन्न उपजाता है। वह बूढ़ा होनेवाला नहीं है। और अत्यन्त वेगशाली है। बड़े-बड़े विद्वान् उसी कालरूपी रथ पर आरूढ़ रहते हैं अर्थात् उसी का चिन्तन करते हैं। यह जगत् उसी रथ के चक्र के समान है। काल ही ने इस विस्तृत भुवन का संहार किया। उसी ने सृष्टि की। उसी ने संसार का पोषण किया। अतएव वही प्रथम देव वा महादेव है। काल ही पिता है। यह संसार उसी का पुत्र है। इससे बड़ी और कोई शक्ति नहीं है। काल ने ही इन दिनों को बनाया। काल पर ही भूत और भविष्य सभी निर्भर करते हैं। काल पर ही तप, ज्येष्ठ और ब्रह्म समाश्रित हैं। यही सबका स्वामी है। यह प्रजापति का भी पिता है। काल ने सर्वप्रथम प्रजापति की सृष्टि की, पश्चात् उसके द्वारा समस्त प्रजाओं की सृष्टि की। स्वयम्भू, कश्यप और तप ये सभी काल ही से उत्पन्न हुए। मर्त्यलोक, परलोक सभी पुण्यलोक और सभी विभूतियों को जीतकर अर्थात् सब तत्वों से परे होने से ब्रह्मा-द्वारा अर्थात् वेदों में काल ही परमदेव कहा गया है।

महाकाल के ध्यान का रहस्य संक्षेपरूप में ऐसा है—

श्मशानस्थ (श्मशानाष्टकस्थ)—आठ प्रकृति अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार का जहाँ

लय हो जाता है, वहाँ ही महाकाल का निवासस्थान है। ज्वलत्पावकमध्यस्थ—अमिताऽपरिच्छिन्ना परमानन्दलक्षण तेजोराशि में है। दिगम्बर—मायारहित वा निर्विकार है। त्रिशूल-डमरू-खड्ग-खर्प्परधारी—त्रिशूल त्रितापहारक, डमरु का शब्द सृष्टिकारक, खड्ग ज्ञानद्योतक, खप्पर रजोगुण का सत्वगुण में लयकारकद्योतक है। कालिकां लालयन्तम्—सृष्टि और स्थितिद्योतक है। विपरीत सृष्टिद्योतक है, क्रोडस्थिता रहना स्थितिद्योतक है।

दक्षिणकाली का ध्यान-संकेत संक्षेप में इस प्रकार है—

वर्ण-काला वा असिता—अबद्धा वा मायारहिता अर्थात् निर्गुणा। शशिशेखरा—अमृतत्व (ब्रह्मत्व) बोधक चन्द्रचूडका अर्थात् नित्यब्रह्म। मुक्तकेशी—केश-विन्यास के विलासरूपी विकार से रहिता अर्थात् निर्विकारा। त्रिनेत्रा—साक्षी (द्रष्टा) वा व्यापकत्वबोधक अर्थात् सर्वव्यापिका। महाघोरबालावतंसा-बालहृदयप्रिया वा निर्विकारहृदयप्रिया अर्थात् मातृभावगत ब्रह्म। सृक्कद्वयगलद्रक्तधारा—रक्त-रजोगुण से रहिता अर्थात् विरजा। प्रकटितरदना—स्वप्रकाश सत्वगुण-सूचक शुभ्र दशनपंक्ति से लोल रसना को दबाए हुए अर्थात् सत्वगुण से रजोगुण को नियन्त्रित करती है। स्मितमुखी—नित्यानन्दा। पीनोन्नतपयोधरा—जगत्पालन वा रक्षणकर्त्री। कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिता — शब्दब्रह्मद्योतक पञ्चाशत् मुण्डमाला से रक्त वा रजोगुण द्वारा सृष्टिकर्त्री। दिगम्बरा—मायारहिता वा चिद्ब्रह्मस्वरूपिणी। शवानां करसंघातैः कृतकाञ्ची—अर्थात् जिससे आते हैं और जिसमें जाते हैं। कृपाण—ज्ञानरूपी खड्ग है, जिससे पाप और पुण्यरूपी पशु मारा जाता है, जिससे जीव की मुक्ति होती है। तात्पर्य्य है मुक्तिदायनी। छिन्नमुण्ड—विगतरजतत्वज्ञान के आधार का

द्योतक है। वर—मुक्ति और भुक्ति दोनों देनेवाली है। अभय—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रितापों से रक्षा करनेवाली है।

चक्रसंकेत के सम्बन्ध में और विशेष न लिखकर इतना उल्लेख करना काफी है कि शाक्तदर्शन के अनुसार सृष्टिक्रम दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्तमूलक है। दूसरे दर्शनों के अनुसार सृष्टि-दृष्टिवादमूलक सृष्टिक्रम है। सृष्टि-दृष्टिवाद में रज्जु-सर्पवत् मनोमय सृष्टि है। यह अद्वैतवाद है। इसी भित्ति पर चक्रसंकेत है। अतएव यही है एक आनन्ददायक मार्ग। क्योंकि श्रीचक्र का रहस्य-ज्ञान यही है। इसका पूर्णज्ञान हो जाने से साधक जीवन्मुक्त हो जाता है अर्थात् पारमेश्वरी तनु प्राप्त करता है।

पूजा संकेत

इस प्रकार मन्त्र महावाक्य का श्रवण और मनन है और श्रीचक्र वा यन्त्रराज अखण्डाकारवृत्ति का द्योतक है। इस यन्त्रराज की आवरण-शक्तियाँ अध्यात्मवृत्तियाँ हैं। पूजा यथार्थ-रूप में निदिध्यासन और सविकल्प समाधि है। पूजा कतिपय कायिक, वाचनिक और मानसिक क्रियासमूह की एक सामूहिक संज्ञा है। यह ध्यान और आवाहन से आरम्भ होकर उद्वासन में समाप्त होती है। इसी हेतु चक्र वा यन्त्रसंकेत के साथ ही ध्यानसंकेत का ज्ञान आवश्यक है। कारण ध्यान उपासना का आधार है। इससे बुद्धि स्थिर होती है और तभी समाधि होती है। ध्यान दो प्रकार का है, निराकार और साकार। निराकार से निर्विकल्प और साकार से सविकल्प समाधि निदिध्यासन वा पूजा के द्वारा प्राप्त होती है। पूजा यथार्थ में उपासना वा ईश्वर-प्रणिधान का एक संगठित रूप है।

इसमें उपासना के भी अङ्ग सन्निहित हैं। धारणा वा ध्यान से लेकर महामन्त्र का जप, उसकी अर्थ-भावना अर्थात् शब्दब्रह्म का रूप-चिन्तन, जिसमें निष्णात होने पर ही परब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होता है। देवता के उद्वासनपर्य्यन्त जितनी क्रियायें होती हैं, वे सब पूजा में सन्निहित हैं। इसके किसी एक अङ्ग को मुख्य बनाकर भी अपने लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं। अपरा-पूजा के अतिरिक्त दोनों पूजाओं का तात्पर्य्य है जीव और ब्रह्म की एकता की खोज, न कि सम्पूर्ण द्वैत-भावना से देवता को आधिभौतिक और आदिदैविक तापद्वय के निवारण के लिए पुष्प, चन्दन इत्यादि निवेदन करना, जैसा कि प्रायः समझा जाता है।

जो सर्वव्यापी है, उसका आवाहन किस प्रकार हो सकता है ? और जिसका रूप विराट् है वह एक यन्त्र, मूर्त्ति वा घट जैसे अति संकीर्ण स्थान में किस प्रकार रह सकता है ? जिसके एक एक रोमकूप में ब्रह्माण्ड हैं, उसे बैठने को कौन-सा आसन दें ? जो स्वयं स्वच्छ और शुद्ध है, उसके पाद्य, अर्घ्य और आचमन की आवश्यकता क्या है ? जो सर्वशुद्ध और निर्मल है, उसका स्नान कैसा ? जो विश्वोदर अर्थात् जिसके अन्दर समस्त विश्व है, उसको वस्त्र कैसे पहनाया जावे ? जो निरालम्ब अर्थात् जिसका आकाररूप आधार नहीं है, उसको यज्ञोपवीत कैसे दें ? निर्वासन को पुष्प, निर्लेप को गन्ध और रम्य अर्थात् स्वतःसुन्दर को आभूषण की क्या आवश्यकता ? नित्यतृप्त को नैवेद्य और ताम्बूल क्योंकर दें ? अनन्त की प्रदक्षिणा कैसी हो ? अद्वय वा निर्द्वन्द्व को प्रणाम वा नमस्कार कैसा ? उसकी स्तुति ही कैसी, जब वेद भी उसको नहीं जानता ? जो स्वयं प्रकाश है, उसका नीराजन वा दीप दिख-

लाना कैसा? जो भीतर-बाहर अर्थात् सर्वव्यापी है, उसका विसर्जन किस प्रकार करें?

इस अवस्था में आवाहन आदि उद्वासनपर्य्यन्त पूजा का संकेत श्रुति के सिद्धान्त से इस प्रकार है, जो शाक्तदर्शन का ही रहस्य है—

आवाहन—सर्वव्यापकत्व लक्षणसिद्ध विशिष्ट स्थान में धारणा है। ब्रह्म का नियत स्थान हृदय ही है। अतएव हृदय से आवाहन कर यन्त्र आदि में प्रतिष्ठा होती है। तात्पर्य यह है कि हृदय वा ज्ञान-द्वारा उसकी स्थिति यंत्रादिक में बोध करते हैं। नहीं तो जो पहले से उपस्थित है, उसका आवाहन कैसा?

आसन—अपरिच्छिन्न भाव से अपने में प्रतिष्ठित करना।

पाद्य—आकाशादि पञ्चतत्वों से बने प्रपञ्च के स्थूलरूप के पाद, नाम और रूपात्मक मल को सच्चिदानन्द से एकात्मक भावनारूपी जल से धोना। अर्थात् नाम और रूप से बनी माया को सच्चिदानन्द का अचिद् अंश मानकर दोनों को एक मानना है कारण ब्रह्म चित् और अचित् दोनों है। यदि उसको केवल चित् मानते हैं तो प्रपञ्च, जो अचित् है, उससे भिन्न हो जाता है। इससे उसके निर्द्वन्द्व में बाधा पहुँचती है।

अर्घ्य—यह भी पाद्य के समान उसी भाव से हाथ का धोना है।

आचमन—उसी प्रकार जल का भी ब्रह्म में लय मानना है। अर्थात् जल भी ब्रह्म है। इस भाव से जल का कवलीकरण वा एकीकरण है आचमन।

स्नान—सत्व, चित्व और आनन्दत्व आदि समस्त अवयवों के अवच्छेद से भावना के जल-सम्पर्क का रूप है।

वस्त्र—धर्मी के समस्त धर्म्मों वा अवयवों की वृत्ति-विषयत्व की भावना है। वृत्ति-विशेष का द्योतक ही वस्त्र-विशेष है। नहीं तो दिगम्बरा वस्त्रहीना है।

आभरण—निर्विषयत्व, निरञ्जनत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि अनेकरूपक धर्मों की धर्मी से अभेद-भावना है।

गन्ध—पृथ्वी का विशेष गुण है। अतएव अपने शरीर के पृथ्वीभाग अर्थात् पार्थिवांश के जड़भाग को हटाकर चित् मात्र का ही अंश रखना। तात्पर्य्य कि पार्थिवांश जड़ वा अचित् अंश को चिदांश समझ' अपने को भी चित् ही समझना।

पुष्प—स्वशरीर के पार्थिवांश की तरह आकाशअंश की भी उसी प्रकार की भावना है।

धूप—इसी प्रकार वायु-अंश की भावना है।

दीप—इसी प्रकार तैजस-अंश की भावना है।

नैवेद्य—इसी प्रकार अमृतांश की भावना है।

ताम्बूल—चन्द्रमण्डल की सोलह कलाओं की इसी प्रकार की भावना है।

स्तव—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी समस्त शब्दों का नाद द्वारा ब्रह्म में उपसंहार-चिन्तन ही स्तव है। अर्थात् वाचा और मनसा ब्रह्म का तादात्म्य-चिन्तन।

प्रदक्षिणा—विषयों में दौड़ती हुई चित्तवृत्ति की विषय-जड़ता के निरासन से ब्रह्म में इसको लय करना है। अर्थात् विषय-विशेष में यानी ब्रह्म में चित्त के विजातीय प्रवाहों को रोककर सजातीय प्रत्ययप्रवाह को निरन्तररूप से प्रवाहित रखना।

प्रणाम—विषयों से चित्तवृत्ति को हटाकर केवल एक ब्रह्म में लीन करना है। अर्थात् खण्डाकार चित्तवृत्ति को अखण्डाकार कर देना।

उद्वासन वा विसर्जन—यह पूजा की समाप्ति पर होता है। यह ज्ञान का द्योतक है। इस ज्ञान से पूर्ण सन्तोष होता है। अतएव श्रुति की एक परिभाषा यह भी है कि पूर्ण सन्तोष ही विसर्जन है। पद्धति कहती है कि हृदय में विसर्जन करे, तात्पर्य कि अब कोई कर्म करना शेष नहीं है, इस भाव का निश्चय ज्ञान हो जाय।

इस प्रकार की पूजा को महायाग कहते हैं। इसमें जीव ज्ञानेन्द्रिय-द्वारा बोधित विषयों का ब्रह्म में समर्पण करता है और अपने को द्रष्टा मात्र समझता है। इससे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। यही मनोव्याधि की औषधि है।

पूजा-संकेत यही है। इसको जो जान लेता है और निदिध्यासन के द्वारा इस ज्ञान को दृढ़ करता है, वह ब्रह्मवित् होता है। और इस प्रकार ब्रह्म हो जाता है।

साधन-तत्व

साधन-तत्व अर्थात् साधन के मूलाधार रहस्य का ज्ञान न होने से और उसके अनुसार न करने से प्रथमतः साधन हो ही नहीं सकता है और अगर होता भी है तो बहुत ही अपूर्णरूप से, जिससे फल भी नाममात्र का ही होता है।

सर्वप्रथम इस बात का ज्ञान जरूरी है कि सकामोपासना से इष्टसिद्धि नहीं होती है। आद्या काली का कहना ही क्या? यह तो श्मशानवासिनी है। जब तक हृदय को श्मशान के सदृश न बनावें तब तक वह न तो आ सकती है और न रह सकती है। श्मशान का सूक्ष्म मतलब है, जहाँ रागादि का नाश व

लय हो। अतएव राग व काम का, जो पतन के मुख्य तीन कारणों में प्रथम है, दमन जरूरी है। इसके बाद लोभ का, जो सब पापों का मूल कारण है। यह लोभ होता है परान्न, परद्रव्य और प्रतिग्रह का। परान्न से जिह्वा दग्ध होती है और प्रतिग्रह से हाथ। और जैसा कहा है मन व हृदय दग्ध होता है पर-स्त्री से। इस अवस्था में सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? अतएव साधक ब्राह्मण हो या चाहे जो हो, प्रतिग्रह न ले और परान्न (निमन्त्रण) न खाए। वह परस्त्री का सम्पर्क मातृ-भाव के अतिरिक्त न करे। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि दूसरे का अन्न खानेवालों की और न खानेवालों की भी जिह्वा असत्य-भाषण से दग्ध रहती है। धर्म्म के चार चरणों में से केवल एक चतुर्थ चरण सत्य ही इस घोर कलिकाल में शेष रह गया है। अगर इस एक अवलम्ब को भी त्याग दें तो फिर परिणाम शोचनीय है। जो जिह्वा असत्य-भाषण से दग्ध रहे, उस जिह्वा से कोटिजप करने से भी सिद्धि नहीं होती यह सिद्धान्त स्वयंसिद्ध है। सत्य के आश्रय से ही कर्म सफल होता है। अहिंसा का भी अवलम्बन अनिवार्य्य है। हिंसा द्वेष को कहते हैं। यह राग का सहचर है और मन को चञ्चल करनेवाला है। इसका दमन किये बिना कुछ नहीं होने का जीवहत्या मात्र हिंसा नहीं है जैसा कि साधारणतया समझा जाता है। इसके सम्बन्ध में तन्त्रशास्त्र की कड़ी आज्ञा है कि अपने स्वार्थ के लिए घास तक का काटना पाप है। इससे तामसी वृत्ति बढ़ती है, जिससे बड़ा अनिष्ट होता है।

सारांश यह कि शास्त्रों का सर्वसम्मत आदेश है कि बिना सत्य, ब्रह्मचर्य्य और अहिंसा के किसी प्रकार की उपासना में इष्टसिद्धि नहीं होती है।

पूर्व-पीठिका

जगज्जननी भगवती श्यामा की पूजा जब ब्रह्मादि देवतागण भी नहीं कर सकते, तो कीटोपम मनुष्य क्या कर सकता है! क्योंकि 'मैं तो हे अम्ब ! न तुम्हारा रूप, न शरीर और न गुण जानता हूँ। बस एक ही वस्तु—केवल तुम्हारी भक्ति जानता हूँ। भक्ति भी कैसी, कितने प्रकार की होती है इत्यादि नहीं जानता। इसी का तो जिज्ञासु हूँ।'

सुना है भक्ति को अनुरक्ति भी कहते हैं। और एक प्रकार के योग का नाम भी भक्ति-योग है। भक्तियोग के सभी अधिकारी हैं। शूद्र क्या, स्त्री क्या, चाण्डाल तक इस योग के अधिकारी हैं। इसी भक्तियोग के बल से तिर्यक्योनिवाले गीध इत्यादि भी तर गये। परानन्द के मत से वाणप्रस्थ ही भक्तियोग के अधिकारी हैं। परन्तु उनका इससे यह मतलब है कि कर्मयोग के बाद ही भक्तियोग वा उपासनाक्रम श्रेयस्कर है। कर्मकाण्ड के बाद उपासनाकाण्ड है, जिसके बाद ज्ञानकाण्ड है। किन्तु यह पूर्वजन्मार्जित संस्कार पर निर्भर है। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य्य के बाद गार्हस्थ्य, फिर वाणप्रस्थ और उसके बाद संन्यास है। किन्तु इस क्रम में भी अपवाद देखा गया है और देखा जाता है। पूज्यपाद शंकराचार्य्य ने ब्रह्मचर्य्य के बाद ही गार्हस्थ्य और वाणप्रस्थ दो अवस्थाओं को लांघकर संन्यास ले लिया। इसी प्रकार साधक अपने पूर्वजन्मार्जित संस्कारवश कर्मयोग न करके भी उपासना वा भक्तियोग-द्वारा इष्टसाधन करता है। अतएव भक्तियोग के अधिकारी गृही भी

हैं। यद्यपि पारानन्द ऋषि ने गृही को कर्मयोग करने का उपदेश दिया है, तथापि जब हम देखते हैं कि बहुत से गृहस्थों ने भक्तियोग से परमपद प्राप्त किया है तो गृही का भी भक्ति-योग का अधिकारी होना सिद्ध हो जाता है। वैसे गृहियों में अनेक तो पहले बड़े दुराचारी थे। दुराचारी को भी अभयदान और किस उपाय से सम्भव है। भक्ति का परिणाम तो तादात्म्य से भी बढ़कर है। बढ़कर ऐसा है कि भगवान् किसी के अधीन नहीं होते परन्तु भक्त के अधीन होना ही पड़ता है, ऐसा भगवान् स्वयं कहते हैं। भक्तों की पराधीनता भी स्वीकार करने में भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् अपने भक्त को उस पद पर बैठाते हैं, जहाँ कर्मयोगी, ज्ञानयोगी इत्यादि को भी बैठने का अधिकार नहीं है। भक्त भगवान् का आत्मीय या समीपी सम्बन्धी ठहरा। अतएव साधना के लिए सम्बन्ध-स्थापन आवश्यक है। कोई उपास्य देवता को स्वामी समझ-कर भजन करता है। इस अवस्था में साधक उसका दास होता है। इसको दास्यभाव कहते हैं। सख्यभाव में सखा वा मित्र के रूप में वह उसे भजता है। कोई शिष्य बन उसको गुरु बनाकर भजता है। कोई लड़का होकर उसको पिता व माता के रूप में भजता है। फिर कोई पिता बनकर उसको लड़का (बालगोपाल) अथवा लड़की (कुमारी) के रूप में भजता है। ऐसे ही और भी सम्बन्ध हैं, जिनको स्थापित कर भक्तलोग 'प्रणिधान' करते हैं। भजन करना होता है काय, वचन और मन से। यहाँ बाजारू प्रेम से काम नहीं चलता है। बाजारू अर्थात् अर्थार्थी प्रेम भी एक प्रकार की गौणभक्ति ही है। यह कर्मकाण्ड के अन्तर्गत है। परन्तु सच्ची भक्ति (परा-भक्ति) इससे बहुत श्रेष्ठ है। इसी पराभक्ति की महिमा शास्त्रों में कही है। केवल पराभक्ति से ही इष्टसिद्धि होती है। कुलार्णव

इसी पराभक्ति को भक्ति कहता है। यह पूर्ण भक्ति है। पूरे का पूरा फल और आंशिक का आंशिक ही फल मिलता है। हम जिस प्रकार अपने इष्ट को देखेंगे, वह भी हमको उसी प्रकार देखेगा। मन से भजकर भक्त भगवान् का हो जाता है और भगवान् भी उसके हो जाते हैं। मन से भजन करने का मतलब है तन्मय हो जाना। वचन से भक्ति करने का मतलब है नाम और गुण का कीर्त्तन वा स्तवन। नाम-कीर्त्तन से मतलब है शतनाम, सहस्रनाम इत्यादि का पाठ। नाम-कीर्त्तन का सूक्ष्म फल है तादात्म्य। नामपाठ ध्यानसहित करने से तन्मयता आती है। अगर थोड़ी भी तन्मयता न आवे तो समझना चाहिए कि पाठ नहीं हुआ। और गुण-कीर्त्तन है स्तव का पाठ यथा चण्डीस्तव, देवीमहिम्न इत्यादि का पाठ उनका अर्थ समझकर करना। अर्थज्ञान-विहीन पाठ पाठ नहीं है। यह सुग्गे की तरह राम-राम करना है। इस प्रकार के पाठ से तन्मयता न आने से फल भी प्रायः नहीं के समान ही है। तन्मय होकर कीर्त्तन करने से भगवान् जल्दी ही साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देते हैं और अपने स्वरूप का अनुभव करा देते हैं। कर्म से भक्ति करने का तात्पर्य्य है उपास्य के निमित्त सब कुछ करना अथवा 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' भाव से करना। इससे भी कार्य्यसिद्धि होती है। ऐसी भक्ति अव्यभिचारिणी होनी चाहिए नहीं तो कार्य्यसिद्धि नहीं होती। व्यभिचारिणी भक्ति से कुछ नहीं होता।

अब यह जानना है कि भक्त को कौन सम्बन्ध अपने इष्ट से जोड़ना चाहिये। सम्बन्ध तो मुख्यतया केवल माता ही से है। कारण जीव की उत्पत्ति और पालन का एक कारण माता ही है। पिता सहकारी होने से गौण कारण सो भी उत्पत्ति-मात्र का है। क्योंकि प्रत्येक जीव माता के गर्भ से निकलने

पर मातृदुग्ध से ही पालित होता है और माता-द्वारा ही रक्षित होता है। और 'माँ' मन्त्र से ही दीक्षित होता है। माता ही आदिगुरु है। माता ही प्रत्यक्ष देवता है। यह विशेषता केवल मनुष्य में ही नहीं है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग इत्यादि तक जो कुछ सीखते हैं, अपनी-अपनी माता से ही सीखते हैं। उनके पिता उनके निमित्त प्रायः कुछ नहीं करते। हिंसक जीवों में बाघ, बिल्ली इत्यादि जीवों के पिता तो बच्चों को खा तक भी जाते हैं, अगर उनकी माता उनकी रक्षा न करे। पृथ्वी को माता कहा जाता है। क्यों? कारण पृथ्वी समस्त जीवों को उत्पन्न करती है और अन्न, फल तथा जल उत्पन्नकर इनका पालन करती है। इसी से समझनेवालों को सारा संसार मातृ-शक्ति से ओत-प्रोत बोध होता है। जीव को सर्वप्रथम माता का ही ज्ञान होता है। इसलिए यही सम्बन्ध मुख्य है। माता जब पिता, भाई और दूसरे का परिचय कराती है तभी जीव पिता को पिता, भाई को भाई इत्यादि जानता है। नहीं तो माता के अतिरिक्त और किसी को भी वह नहीं जानता। अतः माता के सिवा सभी सम्बन्ध गौण और बनावटी हैं। सहज प्रेम केवल माता से ही होता है। बेटे का अपराध जितना माता क्षमा करती है, उतना पिता नहीं कर सकता, कारण पुरुषहृदय स्वभावतः कठोर होता है और माता का कोमल होता है। पिता के हृदय में कुपुत्र और सत्पुत्र की विषमता कुछ न कुछ रहती ही है, परन्तु माता के हृदय में अणुमात्र भी यह विषमता नहीं रहती है। हम तो कुपुत्र हैं। हमको एकमात्र माता का ही भरोसा है। रहा भाई बेटे, और गुरु का सम्बन्ध। ये तो और भी दूर के सम्बन्ध हैं। क्योंकि भाई वा सखा कभी माता से बढ़कर स्नेही नहीं हो सकता, यह मानी हुई बात है। गुरु के सम्बन्ध में भी भय का किञ्चित् समावेश है। और

बेटे-बेटी का भी सम्बन्ध घटिया है क्योंकि जितना स्नेह माता और पिता को अपनी सन्तान के प्रति रहता है, उतना क्या, उसका चौथाई भी सन्तान को अपनी माता वा पिता के प्रति नहीं रहता है। यह हम संसार के दैनिक व्यवहार में देखते ही हैं। हाँ, एक नाता है स्त्री-स्वामी का, जो इस नाते से भी बढ़कर हो सकता है। यह सम्बन्ध सूक्ष्मभाव से केवल एकता का द्योतक है परन्तु हम तो चीनी होना नहीं चाहते। हम चीनी खाना अर्थात् चीनी का स्वाद लेना चाहते हैं। अगर हम स्वयं चीनी हो गये, तो मजा ही क्या रहा? इसी हेतु पूज्यपाद शंकराचार्य्य ने बहुत ठीक कहा है कि 'मुझे न मुक्ति चाहिये, न धन, न विज्ञान और न सुख। मैं तो तुमसे यही माँगता हूँ कि मेरा बार-बार जन्म हो और केवल तुम्हारा ही नाम जपा करूँ।'

बिना प्रेम के भगवत् प्राप्ति नहीं होती अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती है। प्रेम ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही प्रेम है। बिना प्रेम के ईश्वर रीझता नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

राम-राम सब कहैं ठग ठाकुर औ चोर।
बिना प्रेम रीझे नहीं तुलसी नन्दकिशोर॥

पुनः—हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रकट होइ मैं जाना॥

'प्रकट होना' से तात्पर्य्य है प्रत्यक्ष दिखाई देना। इससे अधिक क्या चाहिये? इस अवस्था में सच्चे प्रेम का ही, जो माता मात्र से होता है, सहारा लेना ठीक है। यह तभी सम्भव है, जब हम उसके सरल-प्राण शिशु बनें। तभी सच्चा आनन्द

पावेंगे। हमारी जो आवश्यकता होगी, वह स्वयं हमको देगी। उसका नाम ही जो माता है। माता का अर्थ ही है कि माता स्नेहयुक्त हो बेटे को परिमित ही देती है। अपरिमित से अनिष्ट होने का भय रहता है। इससे उतना देगी क्यों? गरीयसी देना अच्छा है। प्रेयसी तो बुरा होता ही है। बेटे की तो भलाई करना है न कि बुराई। सांसारिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि बच्चे के लाख हठ करने पर भी माता हानिकारक वस्तु उसे खाने को नहीं देती है। यही योगक्षेम का वहन कहा गया है। और यह भी तो है कि हम 'मां' से नहीं माँगेंगे तो माँगेंगे किससे? परन्तु माँगने के पूर्व हमें 'माँ' को ढूँढ़ निकालना है। यह असाध्य वा असम्भव नहीं है। आर्त्त हो खोजने से 'मां' अवश्य ही मिलेगी। यह खोज ही मुख्य है।

खोज करने में पथ-प्रदर्शक की मूल आवश्यकता है। वही बता सकता है, जिसने देखा है। उससे कम वह बताएगा, जिसने सुना है। इसके अतिरिक्त जो कहेगा, वह ठगेगा—ठीक रास्ता नहीं बतला सकेगा। अतएव गुरु की शरण में जाना होता है।

गुरु से मतलब है सद्‌गुरु अर्थात् शिष्य के दुख को दूर करनेवाले गुरु से, न कि शिष्य के धन को ठगनेवाले गुरु से। गुरु वही है, जो शिष्य की अज्ञानता को दूर करता है। गुरु सबसे श्रेष्ठ है। कहा है कि पिता से आचार्य, जो वेदमन्त्र देकर उपनयन कराता है, श्रेष्ठ है। आचार्य्य से उपाध्याय, जो शास्त्रादि पढ़ाता है, श्रेष्ठ है और उपाध्याय से देवतातत्वार्थ-बोधक मन्त्र की दीक्षा देनेवाला गुरु श्रेष्ठ है। गुरु से श्रेष्ठ जगत् में कोई नहीं है। गुरु उसी को बनावे, जिसके संस्पर्श से ही परमानन्द का बोध हो। जिज्ञासु को राह बतला सकनेवाला और उसके संशय का नाश करनेवाला ही उपयुक्त गुरु

है। जैसे जल्दी में शिष्य बनाना उचित नहीं है, वैसे ही जल्दी में गुरु बनाना भी ठीक नहीं है।

परमपद की प्राप्ति प्रत्येक जिज्ञासु का लक्ष्य होता है। यह परमपद एक उच्चतम विश्राम-स्थान है, जहाँ से फिर लौटना नहीं होता। इसको शब्दान्तर में मुक्तिसौध कहते हैं। इस सौध (मकान) की प्रथम सीढ़ी है दीक्षा। दीक्षा का यथा नाम तथा गुण है। दीक्षा का अर्थ ही है कि 'यह पाशमुक्त कर शिवसायुज्य देती है।' दीक्षा के बिना कुछ नहीं होने का।

दीक्षा तीन प्रकार की है—स्पर्शदीक्षा, दृग्दीक्षा और वेधदीक्षा। स्पर्शदीक्षा उसे कहते हैं, जिसमें छूकर गुरु शिष्य में चैतन्यता का भाव बढ़ाता है। दृग्दीक्षा वह है, जिसमें गुरु दृष्टि-द्वारा अपनी शक्ति से शिष्य की प्रसुप्त शक्ति को जाग्रत करता है। वेधदीक्षा में गुरु अपनी शक्ति-द्वारा शिष्य के अन्तः-स्थल का छेदन कर उसके तेजोंऽश को बढ़ाता है। शास्त्रों में दीक्षा के पाँच और सात भेद भी कहे हैं। यथा समया, विशेषा, साधिका आदि।

इन दीक्षाओं के पश्चात् ही अभिषेक होता है। अभिषेक वाममार्ग में ही होता है। क्वचित् दक्षिणमार्ग में भी देखा जाता है। साधक आचार्य्य से गायत्रीमन्त्र से दीक्षित हो वैदिक मार्ग से साधना करता है। इसमें सफल होकर वैष्णव-मार्ग से साधना करता है। फिर शैवमतानुसार शिवरूप शक्ति की आराधना करता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि शक्तिब्रह्म की उपासना वेदगायत्री के रूप में कर विष्णुब्रह्म की शिवरूप में उपासना की जाती है। प्रतिपादित विषय तो एक ही चित्शक्ति है। इसी का विष्णु, शिव इत्यादि रूपों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अनुसन्धान करना होता है। तदनन्तर यथाऽभिमत मातृरूप से महाविद्या का तान्त्रिक मन्त्र ले

दक्षिणाचार से साधन करना होता है। इन चारों मार्गों से साधना कर साधक अपने को अधिकारी बनाकर वाममार्ग से, जो चारों मार्गों से श्रेष्ठ है, अभिषेक लेकर साधन करता है।

प्रथम अभिषेक का नाम शाक्ताभिषेक है। इस अभिषेक पर, जो अधिकारिता का सूचक है, साधक केवल पञ्चतत्वों द्वारा पूजन-तर्पण मात्र कर सकता है। इसके पश्चात् क्रम-दीक्षा का पटल है। इसमें एक-एक मन्त्र की क्रमशः उपासना करनी होती है। और अपने-अपने क्रम के अनुसार तत्तत् संल्लग्न देवताओं (विद्याओं) के मन्त्रों की दीक्षा होती है। इसमें मतलब यह है कि एक ही मन्त्र साधक की मन्त्रार्थ-भावना की योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप का व्यञ्जक है।

पहले तो कादि, हादि और कहादि क्रम के अनुसार भिन्नता है। तब काश्मीर, गौड़, केरल, विलासक्रम से है। सबसे विशेषतया गुरुक्रम से है। कादिक्रम की भिन्न-भिन्न विद्यायें हैं। इसी प्रकार हादि और कहादि की भिन्न-भिन्न हैं। जिस प्रकार पाठशाला में जब लड़का भर्ती होने जाता है तो उसकी परीक्षा लेकर उसे उपयुक्त कक्षा में लिया जाता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य की परीक्षा लेकर उसके योग्य मन्त्र की दीक्षा देता है। बाद में साधना-द्वारा योग्यता प्राप्त करने पर उच्च कक्षा के मन्त्र की दीक्षा दी जाती है। इसी का नाम क्रमदीक्षा है। इसकी बड़ी आवश्यकता है। इसके बिना सिद्धि नहीं होती। अन्त में जब शिष्य षडाम्नायों में पूर्ण हो जाता है तो गुरु पूर्णाभिषेक देकर उसको पूर्ण अधिकारी के पद पर बैठा देते हैं और वह कौल हो जाता है, जिसके ऊपर और कुछ भी नहीं है। वह पूर्णज्ञानी हो जाता है। इसमें व्यतिक्रम होने से बड़ा गड़बड़ होता है। ऐसा हम आजकल तान्त्रिक जगत्

में प्रायः सर्वत्र देखते हैं? इसीलिए इसकी संस्कृति का अधः-पतन हो गया है।

साधना में मूल वस्तु है श्रद्धा वा विश्वास। श्रद्धा की अनिवार्य्य आवश्यकता है। 'विश्वासः फलदायकः' ठीक ही कहा गया है। क्योंकि कर्म का प्रथम कारण विश्वास है। विश्वास न होने से कर्म नहीं किया जा सकता है। कर्म न किये जाने से फल असम्भव है। विश्वास का अर्थ वह अन्धविश्वास नहीं है कि अन्धवत् (विवेकहीनवत्) किसी ऐरे-गैरे का विश्वासकर कर्म करे। यहाँ अन्धविश्वास से यह मतलब है कि विवेकबुद्धि से सद्गुरु चुनकर उसके आदेशों का अन्धवत् सब प्रकार से पालन करे। बीमार पड़ने पर अन्धवत् जिस-किसी के कहने से जिस-किसी को चिकित्सक न मानकर अपनी विवेकबुद्धि से अथवा विवेकी हितैषी स्वजनों की सलाह से किसी अनुभवी चिकित्सक को बुला लाते हैं। और उसी के नुसखे के मुताबिक औषध और पथ्य रोगी को देते हैं। यह अन्धवत् ही अर्थात् बिना तर्क-वितर्क के करते हैं। अगर ऐसा न करके अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार, जो इस विषय में अर्थात् चिकित्साशास्त्र में एकदम अनजान है, दवा और पथ्य में हेर-फेर करें तो बीमारी सुधरने के बदले बिगड़ जायगी। इसीलिए तर्क-वितर्क, जिसको कुतर्क भी कह सकते हैं, निषिद्ध है। तर्क भक्तिमार्ग में बिलकुल वर्जित है। यह तर्क-वितर्क या वाद-विवाद दूसरे से तो होता ही है, अपने मन में भी होता है। अपने मन में तर्क-वितर्क होने से संशय वा मोह उत्पन्न होता है, जिससे बड़ा अनिष्ट होता है।

'संशयात्मा विनश्यति', 'वादे वादे जायते तत्वबोधः' की जो कहावत प्रचलित है, उसमें जिज्ञासा-भाव है, जिसको लेकर श्रद्धालु शिष्य शङ्का-समाधान के निमित्त गुरु के सामने तर्क-

उपस्थित करता है। और गुरु उसकी शङ्का के समाधान के लिए प्रबल एवं युक्ततर तर्क से सिद्धान्त समझाते हैं। ऐसा वाद दूषित नहीं है। परन्तु जो वाद अश्रद्धा से आग्रहपूर्वक होता है, वह तो बुरा ही फल देता है। इसमें अपने मत का, युक्त हो अयुक्त हो, दुराग्रह हो ही जाता है। फिर सिद्धान्त का लक्ष्य छूट जाता है। व्यक्तिगत दोष-निरीक्षण और दोषारोपण होने लगता है। इसीलिए—'वादे वादे वर्द्धते वैरवह्निः' कहा गया है। इससे हानि के सिवा लाभ कुछ भी नहीं है। अतएव गुरु-वाक्य में तर्क-वितर्क करना अपना सर्वनाश करना है। गुरु-वाक्य को सर्वोपरि अर्थात् शास्त्रों से भी बढ़कर मानने का शास्त्रकारों का आदेश है। गुरु को मनुष्य समझना मन्त्र को वचन और देवता को पत्थर वा मिट्टी समझने के समान ही दोषजनक है। अतः गुरु के वाक्य में श्रद्धा की परम आवश्यकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अगर कुसंस्कार से इस प्रकार की धारणा न रहे तो इस मार्ग में पैर ही न रखे। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि स्थूलदृष्टि से कुलमार्ग में यद्यपि अनेक सुविधायें हैं किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से रहस्य-गर्भ की वास्तविकता का विचार करने से इसकी आभ्यन्तरिक गहनता बोध होती है। इस गहनता को सद्गुरु ही सुलझाता है।

गुरु से दीक्षित हो उसके पास रहकर उसके आदेशानुसार दिनचर्य्या बना साधना करे। दिनचर्य्या नियमित रूप से पालन करने से ही साधना होती है। उचित समय पर तत्तत् कार्य्यों के न करने से इतना गड़बड़ होता है कि साधना हो नहीं सकती। कर्मनिष्ठता के साथ कर्म-सम्पादन में समय और नियम की पाबन्दी सर्वत्र ही देखते हैं। और साथ ही नियत समय पर निर्धारित कार्य्य-सम्पादन की उपयोगिता भी देखते हैं। रेल में, 'आफिस' इत्यादि में निर्धारित समय

पर तत्तत् कार्य्य के न होने से जो गड़बड़ होगा, वह सभी समझ सकते हैं। उसी प्रकार आध्यात्मिक कार्य्य करने में भी समय का ध्यान और नियमपालन का दृढ़ संकल्प आवश्यक है। आजकल यह आम शिकायत है कि 'समय ही नहीं मिलता है। क्या करें? घरेलू झंझटों से फुरसत ही नहीं।' परन्तु यह बड़ी भूल है क्योंकि जहाँ इच्छा है, वहाँ मार्ग है। ठगना दो प्रकार का होता है—एक दूसरों को ठगना और दूसरा अपने आपको। 'समय नहीं मिलता' यह कहना अपने को ठगना है। सब सोच-समझकर ही शास्त्रों में नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों के समय और नियम निर्धारित किये गये हैं। यह साधारण-सी बात है कि हम सारे दिन घर के झंझटों में फँसे रहते हैं, परन्तु हम सूर्योदय के पहले दो या तीन घन्टे केवल आलस्य में ही खोते हैं। और सोने के पहले एक दो घण्टे गपशप में खो देते हैं। ६ से ७ घण्टे हमको सोने के लिए काफी हैं। यह मानी हुई बात है कि सोना उचित मात्रा में ही स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। मात्रा से अधिक सोना भी शरीर के लिए हानिकारक है। इसे ध्यान में रखकर ही साधना का समय ब्राह्ममुहूर्त्त और महानिशा में स्वास्थ्य-विज्ञान के अनुसार निर्दिष्ट किया गया है। शारीरिक स्वस्थता पर आध्यात्मिक वा मानसिक उन्नति बहुत अंशों में निर्भर करती है। शरीर भला तो मन भला और मन भला तो शरीर भला। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। धर्म का प्रथम कारण स्वस्थ शरीर है। इस हेतु शास्त्रानुसार ही दिनचर्य्या रखनी चाहिए, जिससे इस लोक और परलोक की साधना हो। इसी को चातुरी कहते हैं—'या लोकद्वयहितसाधनकरी सा चातुरी चातुरी।'

किसी प्रकार की भी साधना में सहकारी गुणों की नितान्त आवश्यकता है। भक्तियोग के यम, तप, स्वाध्याय और ध्यान

ये चार मुख्य अङ्ग हैं। इनका संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

१ यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अयाचना ये यम हैं। इनकी परिभाषायें इस प्रकार हैं—

अहिंसा—हिंसाभाव का सर्वथा अभाव है अहिंसा। हिंसा का अर्थ द्वेष है, जो दुष्ट-भावना से लेकर स्वरूप-नाश तक होता है। इन दोनों अर्थात् द्वेष-भावना और द्वेषवश शरीर नाश करना के अन्तर्गत द्वेषजन्यात्मक जो जो क्रियायें होती हैं, वे हिंसा ही हैं। हिंसा केवल किसी को मार डालने तक में ही सीमित नहीं है जैसा कि वर्तमान समय में साधारणतया समझा जाता है। जान से मारना तो हिंसा की एक चरम क्रिया है। संक्षेप में द्वेषभाव से किया गया कर्म हिंसा में गिना जाता है। अन्य हिंसा वास्तविक हिंसा नहीं है। जैसे वैदिक और तान्त्रिक वलिदानों को हिंसा नहीं कह सकते। अतएव अहिंसा का मतलब है प्रत्येक जीव के प्रति निर्द्वेषभाव।

सत्य—इसे सभी जानते हैं। हाँ, सत्य बोलकर दूसरे की बुराई करना वा कराना भी पाप है।

अस्तेय—दूसरे की वस्तु में कर्म, मन और वचन से निःस्पृहा ही अस्तेय है। तात्पर्य्य कि कर्म से अर्थात् वस्तुसंग्रह नहीं भी किया तब भी अगर लेने की इच्छा हुई तो मन दूषित हो गया, कारण चोरी करने का भाव हृदय में आ गया।

ब्रह्मचर्य्य—मन, कर्म और वचन से आठों अङ्गों सहित मैथुन-त्याग ही ब्रह्मचर्य्य है, न कि केवल क्रिया का अभाव जैसा कि आजकल साधारणतया समझा जाता है। 'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु' का रहस्यज्ञान केवल ब्रह्मचर्य्य से ही होता है।

अयाचना—मनसा, वाचा और कर्मणा अपने इष्ट के अतिरिक्त (यदि हो सके तो इष्ट से भी नहीं) किसी से कुछ भी न माँगना। यही पौरुष है। याचना से बहुत बड़ा नैतिक पतन होता है। इससे आत्मबल घटता है।

२ तप—मिताहार, अनाहार इत्यादि के द्वारा शरीर के मलों का शोषण करना, जिससे विहित अनुष्ठान में मानसिक शारीरिक विघ्न न हों और इन्द्रिय-निग्रह में साधक क्षम हो।

२ स्वाध्याय—अपने इष्ट और उसके शब्दरूप मन्त्र का सर्वदा निरवच्छिन्न रूप से मनन, जिसका सूक्ष्म तात्पर्य है तन्मयता का सतत ज्ञान अर्थात् 'अहम्' (मैं) और 'सा' (वह) के ऐक्य का बराबर मनन करना।

४ ध्यान—वह माता है, मैं उसका पुत्र हूँ। वह आराध्या है, मैं उसका आराधक हूँ। उसे छोड़कर मेरा रक्षक और कोई नहीं है—यही चिन्तन करना ध्यान है।

प्रथम खण्ड

प्रातःकृत्य

प्रातःकाल उठकर मन में शुभ विचारों की स्थापना करने से हमारे कर्म शुभ होते हैं। मन भला तो कर्म भी भले, मन बुरा तो कर्म भी बुरे। चोर-बेईमान सबेरे उठकर सबसे पहिले यही विचार करते हैं कि किसके घर में कैसे चोरी करें, किसको किस प्रकार ठगें। और साधु यही विचार करता है कि किस प्रकार परमपद की प्राप्ति करूँ, किस प्रकार परोपकार करूँ इत्यादि। इसीलिये साधक के लिए प्रातःकृत्य करना शास्त्रों में आवश्यक बताया गया है।

प्रातःकृत्य का समय ब्राह्ममुहूर्त है, न कि आठ-नौ बजे। जैसा कि आजकल मानते हैं। ब्राह्ममूहूर्त सूर्योदय के ४८ मिनट पहले के समय को कहते हैं। इस समय सौरमण्डल से गायत्री-धारा पृथ्वी पर बराबर प्रवाहित होती रहती है। इससे वायु-मण्डल ओज से भरा रहता है, जो सांस लेने के साथ शरीर के भीतर जाता है। इससे आयु बढ़ती है और शरीर स्वस्थ होता है। यह तो स्थूल प्रभाव है और इसका प्रभाव मन पर पड़ने से आध्यात्मिक भावनाओं की पुष्टि होती है।

इस काल में प्रथम कर्तव्य है गुरु का ध्यान और उनकी मानसिक पूजा, गुरुपादुकामन्त्र का जप, स्तवन और प्रणाम। इस सम्बन्ध में एक मत है कि उठकर शौचादि से छुट्टी पा मन्त्र स्नान करके पूजागृह में जाकर प्रातःक्रिया करे। और

दूसरा मत है कि शय्या पर बैठकर ही प्रातःक्रिया कर ले तब शौचादि से छुट्टी पा स्नान कर अपने इष्ट के आचार-क्रम के अनुसार तिलक, विन्दु इत्यादि धारण करे। पहला क्रम उन लोगों के लिए है, जिनके यहाँ देवता-विग्रह वा श्रीयन्त्र प्रतिष्ठित है और जो वाह्य शौचादि को ही मुख्य समझते हैं। दूसरा क्रम उनके लिए है, जिनके यहाँ देवता-विग्रह प्रतिष्ठित नहीं है और जो यह समझते हैं कि शौचादि वाह्यक्रिया है, जिसके पहले ही मानसिक शौचादि क्रिया का होना आवश्यक है।

गुरुपूजा इष्टपूजा से पहले ही करनी चाहिये। क्योंकि एक तो गुरु पथ-प्रदर्शक है, दूसरे सभी का आदिगुरु परमशिव है, जिसके तत्व में आत्मतत्व और विद्यातत्व का लय होता है अर्थात् शिवतत्व ही परमतत्व वा विशुद्धतत्व है। इससे गुरु का चिन्तन पहले करना चाहिये। यह उन साधकों के लिए है, जो असंसिद्ध हैं। नहीं तो देवता, गुरु और मन्त्र तीनों एक हैं। साधक अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिसका भी चिन्तन आदि पहले करें।

इसके पूर्व मन पवित्र करना चाहिए। इसके लिए मन्त्र-स्नान है। प्राणायाम द्वारा मन्त्र और देवता के ऐक्य की भावना ही मन्त्रस्नान है। यह इस प्रकार होता है कि इड़ा वा गङ्गा, पिंगला वा यमुना और सुषुम्ना वा सरस्वती इस त्रिवेणी में निम्मजन करने को ही वास्तविक स्नान कहते हैं। यह बिना प्राणायाम के हो ही नहीं सकता। प्राणायाम का एक सूक्ष्म रहस्य है। इसके कुम्भक की मात्रा सोलह हैं। ये सोलह मात्रायें आत्मा की सोलहों अवस्थाओं की हैं।

इस प्रकार प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक की तीन क्रियाओं द्वारा आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तीनों

के ज्ञान से निर्मल हो गुरु का ध्यान सहस्रदलकमल से मिले हुए द्वादशदलकमल में करे। यथा—

नीलाम्बरं नीलविलेपयुक्तं, शङ्खादिभूषासहितं त्रिनेत्रम्।
वामांगपीठस्थितनीलशक्तिं, वन्दामि वीरं करुणानिधानम्॥

अनुत्तरतन्त्र में यों है—

वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मनसगोचरम्।
रक्तशुक्लप्रभामिश्रमतर्क्यं त्रैपुरं मह॥

गुरुगीता के अनुसार ऐसा है—

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्त्तिम्।
द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम्॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वदा साक्षिभूतम्।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि साधारणतया गुरु का जो ध्यान प्रचलित है, वह श्रीकुल का है, जो इस प्रकार है—

शिरस्थशुक्लपद्मस्थं प्रसन्नं द्विभुजाक्षिकम्।
शशांकामृतसंकाशं वराभयलसत्करम्॥
शुक्लाम्बरधरं श्रीमत् शुक्लमाल्यानुलेपनम्।
वामोरौ रक्तशक्त्या च युतं पद्माकरस्थया॥*

इस ध्यान का रहस्य संक्षेप में विमर्शशक्ति का पराशक्ति वा पूर्णब्रह्म से अभिन्नता का द्योतक है। यह गुरुतत्व महागहन है, जो गुरुमुख से योग्य अधिकारी ही समझ सकता है।

इस प्रकार गुरु का ध्यान कर पञ्चतत्वात्मक मानसपूजा करे। पञ्चतत्वात्मिका पूजा का संकेत यह है कि जीव अपने

---

* पाठभेद—युतं देव्याख्यमव्ययम्।

आत्मस्थित इष्ट को अपनी सभी इन्द्रियों के समस्त आनन्ददायक पाञ्चभौतिक विषयों को समर्पण करके वास्तविक पूजा करता है। यहाँ संक्षिप्त मानसपूजा में पृथ्वीरूप गन्ध, आकाशरूप पुष्प, वायुरूप धूप, तेजरूप दीप, अमृतरूप (रसात्मक) नैवेद्य का मतलब इस प्रकार है—

१ भूततत्व—अपने शरीर के पार्थिव भाग की जड़ता के दूर होकर चिन्मात्र शेष रह जाने की भावना गन्ध है।

२ आकाशतत्व—उसी प्रकार आकाशभाग की भावना पुष्प है।

३ वायुतत्व—उसी प्रकार वायुभाग की भावना धूप है।

४ अग्नितत्व—उसी प्रकार तेजसभाग की भावना दीप है।

५ जलतत्व—उसी प्रकार अमृतभाग की भावना नैवेद्य है।

इसके बाद गुरुपादुकामन्त्र का जप करना चाहिये। गुरुपादुकामन्त्रजप का मतलब 'ऐं ह्रीं श्रीं' इन्हीं तीन वीजों में भरा है। इन तीनों वीजों के संकेतार्थ अर्थात् आध्यात्मिक रहस्य समझे बिना जप निष्फल है। उपासना-संकेत का प्रथम भाग मन्त्र-संकेत है। दूसरा यन्त्र वा ध्यानसंकेत और तीसरा भाग है क्रिया (पूजा) संकेत। इन तीनों संकेतों का रहस्य जानना जरूरी है, विशेष कर मन्त्रसंकेत अवश्य समझना चाहिये। एक का भी ज्ञान न रहने से पूजा पूरी नहीं होती। जैसे श्लोक के सारे शब्दों के अर्थ न समझने से उसका मतलब नहीं मालूम होता है, वैसे ही इन तीनों संकेतों का ज्ञान न होने से फल नहीं होता। अतएव संकेतों को गुरु से जरूर समझ लेना चाहिये।

उक्त तीन वीजों के बाद अपने गुरु के 'आनन्दनाथान्त' नाम और गुरुपत्नी के 'अम्बान्त' नाम (नाम से 'कुलनाम' का मतलब है लौकिक नाम का नहीं) इन दो संयुक्त नामों की

श्रीपादुका के पूजन और तर्पण से लघुपादुकामन्त्र बनता है। पूजन और तर्पण दोनों का उल्लेख करना चाहिए नहीं तो मन्त्र अधूरा रहता है। गुरुपादुकामन्त्र का यह मतलब है कि जैसे पादुका, खड़ाऊँ, जूते इत्यादि पहिन कर चलने में काँटों का डर नहीं रहता है, उसी प्रकार गुरुपादुकामन्त्र जप लेने से दिन भर की आध्यात्मिक क्रिया में विघ्नरूपी कांटों से रक्षा होती है। इसका संक्षेप में मतलब यह है कि गुरु विमर्शशक्ति हैं। इनके मनन अर्थात् इनके महामन्त्रों वा महावाक्यों के मनन से अविद्यारूपी विघ्न हटता है।

जप का समर्पण करके स्तवपाठ के वाद प्रणाम करना होत है। समर्पण से मतलब है फलत्याग का संकल्प। सकामजप में भी यह जरूरी है क्योंकि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के अनुसार प्रत्येक कर्म का समर्पण आवश्यक है स्तव का वास्तविक मतलब है परा, पश्यन्ती, मध्यमा औ वैखरी इन चार प्रकार के शब्दों के नाद-द्वारा ब्रह्म ऐक्य की भावना। इसी भाव से स्तवन करने से इष्टसिद्धि होती है।

प्रणाम का सूक्ष्म मतलब है प्रणम्य में आत्मनिवेदन व समर्पण कर आनन्दसागर में लीन हो जाना। यही इसका असली भाव है। वैसे प्रणाम का भाव सम्मानसूचक है, परन्तु यह स्थूलभाव है। सूक्ष्मभाव यह है कि जिसको प्रणाम कर हैं, वह मुझसे भिन्न नहीं है तो हम किसको प्रणाम करें, या 'अद्वय' भाव लाने के लिए प्रणाम करते हैं। द्वैतभाव में अभि वादन मात्र है और आर्त्त हो शरणापन्न होना है। यह सहज नहीं है। केवल कह देने से वा श्लोक पढ़ देने से काम नहीं चलता है। शरणागत का ही जगदम्बा उद्धार करती है।

इस प्रकार गुरु अर्थात् कारणभूत-विमर्शशक्ति का ध्यान, पूजा, जप इत्यादि अर्थात् मनन और निदिध्यासन कर इष्ट-देवता वा चित्शक्ति का इसी प्रकार से चिन्तन, पूजन इत्यादि करना होता है। परन्तु ध्यान में अधिकारीभेदवश स्थान की पृथक्ता है। उत्तमाधिकारी ब्रह्मरन्ध्र में, मध्यमाधिकारी भ्रूमध्य में और स्थूलाधिकारी हृदय में ध्यान करते हैं। किन्तु जैसे आदि-अधिकारी को हृदय में ध्यान करना चाहिए वैसे ही प्रातःकृत्य में, जो आदिकृत्य है, हृदय में ही ध्यान करना चाहिये। परन्तु हृदय कैसा हो? श्मशानवत्। नहीं तो श्मशानवासिनी वा कूटस्था जगदम्बा 'माँ' काली नहीं आ सकती। और अगर एक पल के लिए आ भी जाय तो रह नहीं सकती। और बिना रहे, पूजा कैसे लेगी? यद्यपि शास्त्र देह को देवालय बताते हैं परन्तु इसके सच्चे ज्ञान से ही शरीर देवता का घर हो सकता है अन्यथा 'शैतान' का ही घर रहता है। यह सच्चा ज्ञान तभी होगा, जब हृदय श्मशानवत् होगा अर्थात् वासनाओं का क्षय होगा। गन्दे स्थान में कोई भला आदमी, देवता की बात कहनी ही क्या, रहना पसन्द नहीं करता। इस हेतु निर्मल हृदय में ही 'माँ' रह सकती है, अन्यथा नहीं। कहा भी है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
कह कबीर कैसे मिले, रवि रजनी इक ठाम॥

और 'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, दूजो नाहिं समाहि॥'

गुरुपादुकामन्त्र और इष्टमन्त्र के जप में भी भेद है। इष्ट-मन्त्र का जप यहाँ वर्णमाला में होता है क्योंकि यहाँ सब क्रियायें मानसिक हैं। वर्णमाला में जप का मतलब है शब्द-

ब्रह्मरूप में भावना। प्रत्येक वर्ण, स्वर और व्यञ्जन अक्षर हैं। अक्षर का अर्थ है अनाशवान् वा नित्य। वर्णमाला सब मालाओं में श्रेष्ठ है। यह कुण्डलीयोग का एक अङ्ग है और ऊँचे दर्जे के साधकों के लिये है। साधारण रीति से केवल 'अ' से 'ल' तक और 'ल' से 'अ' तक की माला बना कर जप करने से बहुत फल है। इससे ध्यानशक्ति बढ़ती है क्योंकि करमाला और पदार्थमयी माला यथा रुद्राक्ष इत्यादि में मन्त्र, देवता आदि का ध्यान न भी रहने से अँगुलियों की क्रिया होती रहती है, जिससे जप का मिथ्याभान रहता है किन्तु वर्णमाला में ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि ध्यान हट जाने से साधक यह भूल जायगा कि किस वर्ण तक मन्त्र का जप हो चुका है। अतएव वर्णमाला में जप करना ध्यान का विशेष सहायक है। इसके अभ्यास से कुण्डली का उत्थान तक होता है, ऐसा देखा गया है। वर्णमाला सर्वत्र प्रशस्त है।

इसके बाद देवता से निवेदन—

प्रातःप्रभृति सायान्तं सायान्तः प्रातरं पुनः।
यत्करोमि जगन्मातस्तदस्तु तव पूजनम्॥
त्रैलोक्यचैतन्यमयि सुरेशि श्रीविश्वमातर्भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये॥
जानामि धर्म्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्म्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेशि हृदिस्थया मे यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

इन श्लोकों में करते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम अपने को उस पर छोड़ देते हैं। इसी को निर्भरा भक्ति कहते हैं, जो तादात्म्यप्रदा है। इससे ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति दृढ़ होती है। इस भाव से नित्य अभ्यास करने से ही परा-पूजा का अधिकार होता है।

तब भूतशुद्धि है। तब अर्थात् 'अथ' से तात्पर्य्य है कि द्वैतभाव से मनन हो जाने पर भूतशुद्धि करना आवश्यक है अर्थात् अद्वैतभाव को लाना है। अद्वैतभाव बिना अविद्या को हटाये नहीं हो सकता है। अतएव भूतशुद्धि का अर्थ है अविद्यात्मक आत्मतत्व और विद्यातत्व के अविद्यात्मकांश का अपहरण। यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि आत्मतत्व तो शुद्ध अविद्यात्मक है ही, विद्यातत्व के सात तत्वों में एक पुरुषतत्व ही शुद्ध है और शेष पाँच अंश कला, अविद्या, राग, काल और नियति सातवें अंश मायातत्व से पुरुषतत्व को ढँके रहते हैं। ये पाँचों कला आदि तत्व क्रमशः सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, नित्यतृप्ति, नित्यत्व और स्वातन्त्र्य को ढँके रहते हैं। संक्षेप में भूतशुद्धि का अर्थ है जीवभाव का शोधन। इसको कार्य्योपाधि-शोधन भी कह सकते हैं। इसी हेतु भूतशुद्धि की क्रिया में 'हंसः' और 'सोऽहम्' के मनन की मूल आवश्यकता है। 'सोऽहं' का मनन ही भूतशुद्धि है।

तब कुण्डली का ध्यान, उत्थान, षट्चक्रभेदन और परशिवसामरस्य है। इसके बाद ही प्रणाम है। ये क्रियायें हठयोग और लययोग द्वारा दोनों प्रकार से होती हैं उक्त क्रियाओं से शरीर-स्थित प्रसुप्त शक्ति अर्थात् शिवभाव को मनन, निदिध्यासन द्वारा सञ्चालित कर आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का एकीकरण अर्थात् कञ्चुकित जीव को निःकञ्चुकित करना होता है। यह भूतशुद्धि-द्वारा हो चुका रहता है तथापि दुबारा इस क्रिया-द्वारा करना दृढीकरण के हेतु आवश्यक है। इस प्रसुप्त शक्ति कुण्डली को प्राणत्विकशक्ति कह सकते हैं। यही प्राणशक्ति है, जो प्रत्येक जीव में सञ्चित कर्म के अनुसार कम या अधिक मात्रा में रहती है। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्डाण्ड में अर्थात् जो समष्टि में है,

वही व्यष्टि में है। परशिव प्रत्येक जीव के ब्रह्मरन्ध्र में आवृत होकर वर्तमान रहता है। इसी के साथ प्राणशक्ति को मिलाकर पूर्ण करना होता है। इसी को कुण्डली-योग कहते हैं। इसका अभ्यास प्रत्येक शाक्त को करना आवश्यक है। इसी क्रिया से शक्तिसञ्चय होता है, तभी साधक शाक्त कहला सकता है, अन्यथा नहीं। इसका अभ्यास स्वयं आदिनाथ महाकाल ने किया। तभी वे सृष्टि, स्थिति और संहारशक्तियाँ प्राप्त कर सके। इस मार्ग के बिना कोई और गति नहीं है। मनुष्य की कुण्डली साढ़े तीन गुना है और श्री देवी की स्वेच्छानुसार गुणिता है। इनके ध्यान में विद्याभेद से वर्णभेद है। कालीकुल के उपासक—

नीलतोयदमध्यस्थतड़िल्लेखेव भास्वराम्।

ऐसे वर्ण का ध्यान करते हैं अथवा ऐसा करते हैं—

श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्।

किन्तु श्रीकुल में रक्तवर्ण का ध्यान होता है। इसके जागरण के बिना, जिससे मन्त्र चैतन्य होता है, मन्त्र, पूजा इत्यादि से कुछ भी नहीं होता। इसीलिए प्रातःकृत्य में—

प्रकाशमानां प्रथमप्रयाणे प्रतिप्रयाणेऽप्यमृतायमानां।
अन्तः पदव्यामनुसञ्चरन्तीमानन्दरूपाममलां प्रपद्ये॥

की भावना कर निज प्राणशक्ति को परशिव के संयोग से वर्द्धित शक्तिरूप में नमस्कार करते हैं।

इसके बाद अजपा जप-समर्पण है। यह अजपा मन्त्र है 'हंसः', जिसका जप प्रत्येक श्वास के साथ अनायास ही होता है। इसी का निःश्वास में 'सोऽहं' रूप होता है। इसी की भावना करनी होती है कि जीव सर्वदा अपने को शिव वा ब्रह्म समझे। 'सोऽहं' का अर्थ है 'मैं वह हूँ'। यह ब्रह्मभाव है,

जिसका जीव अपने प्रत्येक श्वास और निश्वास में अनुभव करने की चेष्टा करता है।

इस प्रकार द्वैत-मनन के पश्चात् अद्वैत-मनन हो जाने पर ही साधक इष्ट की पूजा का अधिकारी होता है। इसी 'सोऽहं' भावना की पुष्टि के हेतु सारी क्रियायें हैं। पृथ्वी पर पैर रखने के पूर्व प्रणाम कर क्षमा माँगने—

'समुद्रमेखले देवि ! पर्वतस्तनमण्डले !
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे'

का यह तात्पर्य्य है कि पृथ्वी को विष्णु अर्थात् ब्रह्म की सहधर्मिणी मानकर पाँव रखने के लिए क्षमा माँगते हैं। इसका सूक्ष्म मतलब यह है कि प्रत्येक कार्य्य करने के पूर्व इस भाव से समझ करके ही करे। इससे प्रत्येक कर्म में ब्रह्मभाव वा तन्मयता का भाव आता है।

स्नान—इससे बाहरी पवित्रता का ही तात्पर्य्य नहीं है। शास्त्रों में त्रिकाल अर्थात् तीनों सन्ध्याओं में प्रातःकाल, मध्याह्न (दोपहर) और सायंकाल स्नान करने का नियम दिया है। क्योंकि भारतवर्ष गर्म देश है। यह विधान स्वास्थ्य के हेतु है। शरीर स्वस्थ रहने से मन भी स्वस्थ रहता है और स्वस्थ मन में ही सुबुद्धि है। पद्धति के अनुसार जल में त्रिकोण, चतुष्कोण वा वृत्त लिखकर सूर्य्यमण्डल से अंकुशमुद्रा से तीर्थों का आवाहन करते हैं। तत्पश्चात् जल में स्वेष्टदेवता का आवाहनपूजन करके तब स्नान करते हैं। इन सबका आध्यात्मिक रहस्य यह है—

त्रिकोण चित्शक्ति का सृष्टि, स्थिति और संहार का त्रिशक्त्यात्मक चिह्न है। इस त्रिकोण का नाम है योनिमण्डल। योनित्व है चेतनत्व। योनित्व का एक अर्थ कारणत्व भी है।

पुरुष-प्रकृति विलक्षण चित् स्वरूप है, ऐसा सांख्य का सिद्धान्त है। योनि का बड़ा ही रहस्यात्मक अर्थ है, जो त्रिकोणरूपी संकेत को स्पष्ट करता है। त्रिकोण से एकाधिक भावों का बोध होता है। त्रिपुटी का भी व्यञ्जक त्रिकोण है। अस्तु, यहाँ एक ही मुख्यभावद्योतक तात्पर्य्य दिया जाता है। त्रिकोण की तीनों भुजाओं को त्रिगुण अर्थात् सत्व, रज और तमोगुणद्योतक कहते हैं। अतएव इसकी वामरेखा का वर्ण लाल है, जिससे गुण वा ब्रह्मा का बोध है। दक्षिणरेखा शुक्ल है, जिससे सत्व-गुण वा विष्णु का बोध है। और अधोभुजा मरकतवर्ण है, जिससे तमोगुण वा रुद्र का बोध है। इन तीनों भुजाओं से घिरे हुए अर्थात् त्रिगुणावृत्त स्थान का नाम सुदर्शन है। यह कोटिसूर्य्य-प्रतीकाश और कोटिचन्द्र-सुशीतल है। यही 'माँ' का स्थान है, जिसका चिह्न विन्दु है, जिससे गुणातीता ब्रह्म-रूपिणी चित् पराशक्ति का त्रिगुणावृता होना बोध है। अतएव त्रिकोण लिखकर उसमें देवता के आवाहन का तात्पर्य्य आपो ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सूर्य्यमण्डल—सूर्य्य का तान्त्रिक नाम मार्त्तण्डभैरव भी है। इसकी शक्ति प्रकाश है। यह मार्त्तण्डभैरव सूक्ष्मरूप से महा-कालभैरव है। दोनों के गुण-समन्वय से यही सिद्ध होता है। महाकाल से प्रजा की सृष्टि, पालन और संहार ये तीन काम होते हैं। यही तीनों गुण मार्त्तण्डभैरव के भी हैं। मार्त्तण्डभैरव वा सूर्य्य का एक नाम सविता अर्थात् सृजन करनेवाला है। यही पालनकर्त्ता है। यही संहारकर्त्ता है, जब यह रुद्र कहा जाता है। रौद्र वा घाम इसके गुण उष्णता को कहते हैं। यही चिदाकाश-स्थित चित्सूर्य्य है। इसी का हिरण्मयपरकोश में विरज निष्कल ब्रह्म है। यह हिरण्मयकोश आवरण है, जिसमें प्रकाशशक्ति वा चित्शक्ति रहती है। संक्षेप में इतना

ही कहना पर्य्याप्त है कि विन्दुरूपी सूर्य्य को, जो घनीभूता शक्ति है, अंकुशमुद्रा से अपनी चित्तवृत्ति को स्थिर करके तीर्थावाहन करते हैं अर्थात् सूर्य्य वा विन्दु की सप्तरश्मियों द्वारा अनवरत शक्तिधारा आती रहती है, इसका ज्ञान होता है। इस प्रकार का ज्ञान होने से जल में शुद्धत्व वा ब्रह्मत्व का भाव होता है। तभी हम अपने मूलाधार-स्थित शक्तिपुञ्ज से हृदय-स्थित इष्ट के रूप में शक्ति को लेकर सहस्रार-स्थित परशिव से संयुक्त कर उस शक्त्यंश को निश्वास द्वारा कर-कच्छपमुद्रा से बाहर लाकर जल में स्थापन करते हैं। इस प्रक्रिया में ब्रह्मभाव का कितना समावेश है, यह तनिक विचार से ज्ञात हो सकता है। संक्षेप में यह कहना यथेष्ट है कि अमृताम्बुधि स्वेष्ट की इस रूप में भावना करके उसकी गोद में उसकी आनन्दप्रवाह-धारा में निमज्जन कर सत्-चित्-आनन्द की धारा में अपने को डुबोकर बहा देना ही स्नान है।

इसके पश्चात् सन्ध्योपासना है, जो अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार किञ्चित् भिन्न प्रकार की है। यह साधारणतया तीन बार प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल की जाती है। तुरीया या चतुर्थ सन्ध्या तो, जो महानिशा में की जाती है, विरले बड़भागी ही करते हैं। सन्ध्योपासना दो प्रकार की है—वैदिकी और तान्त्रिकी। वैदिकी कर लेने पर ही तान्त्रिकी की जाती है। सन्ध्योपासना न करने से ब्राह्मण अब्राह्मण हो जाता है और वह किसी कर्म का अधिकारी नहीं रहता है।

संक्षेप में यह कहना आवश्यक है कि सन्ध्योपासन पूजा की भित्ति है। यह महाअशौचादि में भी अवश्य करना चाहिये, विशेषकर कालीकुल के उपासकों को। काली-उपासक यथार्थतः ब्रह्म का उपासक ब्रह्मतुल्य है। इस अवस्था में उसे अशौचा-

दिक बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं। काली का उपासक स्वतः-शुद्ध और शुचिः है।

संध्या के अघमर्षण, प्रार्थना (सूर्य्योपस्थान) और गायत्री-जप ये तीन मुख्य अङ्ग हैं। इनका वास्तविक रहस्य समझकर करने से ही तात्पर्य्य सिद्ध होता है न कि पढ़ मात्र लेने से। अघमर्षण का अर्थ है—अघ अर्थात् पाप और मर्षण अर्थात् हटाना। अपने से कायिक, वाचिक और मानसिक जो पाप ज्ञात वा अज्ञात भाव से होते हैं, सूक्ष्मभाव से मनन-द्वारा और स्थूलभाव से पश्चात्ताप-द्वारा अघमर्षणविधि का प्रयोग करके उनका नाश करना और इस प्रकार मन को निर्मल करना है। मनन से तात्पर्य्य है कि 'मैं ब्रह्म हूँ। मैं कर्त्ता नहीं हूँ और न करानेवाला हूँ और न मेरा कार्य है। कर्म में प्रवृत्त होते हुए भी मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, न मुझमें कर्म लगते हैं और न मुझे कर्मफल का लाभ है' इत्यादि। पश्चात्ताप से तात्पर्य्य है कि बुरे कर्म का अनुभव कर उसे फिर न होने देने का उपाय करना। सर्वप्रथम स्वीकारोक्ति आवश्यक है अर्थात् अपने दुष्कृत को समझना। यह अन्तरात्मा वा वाह्यरूप में परमात्मा के समक्ष आत्मा करता है न कि पुरोहित के सामने जैसा 'रोमन कैथोलिक' ईसाई-सम्प्रदाय में नियम है। वह भी कब? साधारणतया मृत्युशय्या पर। यह निरर्थक है 'का वर्षा जब कृषा सुखानी।' इस्लामधर्म में भी 'तोबा' करते हैं।

पश्चात्ताप का अर्थ है पश्चात् वा पीछे ताप वा दुःख अर्थात् बुरे कर्म (कुकर्म) करने पर दुःख करना। इससे संलग्न-भाव है पुनरावृत्ति का निरोधात्मक दृढ़ संकल्प। नीति की दृष्टि से यह विधि बड़े महत्त्व की है। प्रथम एक कुकर्म मनुष्य को पतित कर देता है अगर उसकी पुनरावृत्ति न रोकी जाय इसी पुनरावृत्ति को रोकने का उपाय एकमात्र पश्चात्ताप है

यह भाव उसी को होगा, जिसकी यथार्थतः उस कुपथ पर जाने की इच्छा नहीं है। अतएव अघमर्षण उसी के लिए उपयुक्त है।

प्रार्थना वा उपस्थान—यह वैदिकी संन्ध्योपासन का एक अङ्ग है। यह प्रार्थना प्रत्यक्षदेवता सूर्य्य की है। इसी की अन्तः-प्रेरणा से जीव भला वा बुरा कर्म करता है। यही अज्ञान का नाश करके पाप से रक्षा करता है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि इसी में सब कुछ—ब्रह्म तक समाहित है। बड़े-बड़े विद्वान् इसी कालरथ पर आरूढ़ रहते हैं अर्थात् इसी की चिन्तना में रहते हैं।

तान्त्रिकी सन्ध्या में अर्घ्यमात्र देने की विधि है। प्रथम अर्घ्य है मार्त्तण्ड और इसकी प्रकाशशक्ति को। द्वितीय अर्घ्य है सूर्यमण्डलस्था काली को अर्थात् हिरण्मयकोशस्थिता निष्कला पराशक्ति को। तीसरे अर्घ्य में संध्याभेद के अनुसार प्रातः, मध्याह्न और सायं आदित्यमण्डल के मध्य में रहनेवाली परा-शक्ति को अर्थात् सृष्टि, स्थिति और संहारशक्ति-स्थिता परा-शक्ति आद्या को। जो तात्पर्य्य उपस्थान से सिद्ध होता है, वही तान्त्रिकी का सूक्ष्मभाव के अर्घ्यदान से भी होता है।

तत्पश्चात् गायत्री जप है। गायत्री का अर्थ है, जिसके गायन अर्थात् मनन से त्राण हो, वही गायत्री है। इसको वेद-माता कहते हैं। वेदमाता से तात्पर्य है वेद का सार। वेद का एक अर्थ है वह ज्ञान, जिससे परब्रह्म जाना जाय और दूसरा अर्थ है जानने योग्य वस्तु। इसका लक्ष्यार्थ है मूलतत्व का ज्ञान वा ऋतम्भरा प्रज्ञा। इसी की दीक्षा से द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होते हैं। गायत्री वेदशक्ति है। यह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ब्रह्म के चार पाद हैं—अविद्या, विद्या, आनन्द और तुरीय। गायत्री के भी चार हैं।

इन्हीं चारों से चार वेद हैं। ऋक्, यजुः और साम अर्थ, धर्म और काम के देनेवाले हैं। एक अथर्वण ही मोक्षपाद का प्रतिपादन करता है। यही पराशक्ति है। इसी से कहा गया है 'सर्वे शाक्ता द्विजाः प्रोक्ता न च शैवा न च वैष्णवाः।' वैसे शाक्त को भले ही पशु वा अज्ञानी भला-बुरा कहे परन्तु असली बात यह है कि बिना शाक्त हुये न ब्राह्मण हो सकता है, न क्षत्रिय और न वैश्य। वर्तमान समय में हम आर्यों के इतने अधःपतन का मूलकारण मूलदेवता का त्याग ही है। जैसा कि शास्त्र में कहा है कि 'गुरु के त्याग से मृत्यु होती है, मन्त्र के त्याग से दरिद्रता और मूलदेवता के परित्याग से सर्वनाश होता है।'

इसका यह तात्पर्य है कि देवता (परब्रह्म वा परमात्मा) तो एक है। उसके मुख्यरूप ईश्वर सात, छः वा पाँच हैं। इनके भी असंख्य भेद साधकों के सुभीते के लिए कल्पित हैं। इनका समन्वय इससे होता है—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी सो तैसी॥

इसलिए एक वा निर्द्वन्द्व भावना न रखने से मूल विषय ही नष्ट हो जाता है जैसे अपने इष्ट को अपूर्णरूप से भावना करने से होती है। देवता-त्याग में एक तो निर्द्वन्द्व भावना नहीं रहती है, दूसरे फलाशा—लौकिक तुच्छफलाशा—का भाव प्रबल रहता है, जिसका परिणाम फल का न मिलना है कारण स्थिर-बुद्धि को ही फल मिलता है। फल के न मिलने से अश्रद्धा होती है, जिससे बुद्धि अस्थिर हो जाती है। और बुद्धि के स्थिर न रहने से पूर्ण सर्वनाश हो जाता है। बुद्धि चञ्चल हुई कि बुद्धि का नाश हुआ। तब जीव का सर्वनाश हो जाता है। यह हुआ देवता-त्याग का फल, जो शाक्त (गायत्री मन्त्र से

दीक्षित) होकर भी 'विसुन जी', 'किसुन जी', 'गुपाल जी', 'रघुनाथजी', 'सैत्ताराम', इत्यादि द्वन्द्वभाव से ऐहिक लोभवश भजने का ढोंग रचते हैं। मन्त्रत्याग के फल का देश की सर्वव्यापिनी दरिद्रता से प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। मन्त्र-त्याग का यह तात्पर्य नहीं है कि गायत्री की उपासना करके विशिष्ट देवता की उपासना न करे। मन्त्रत्याग है मूलमन्त्र अर्थात् गायत्री को छोड़कर वैदिक, तान्त्रिक, स्मार्त्त, साबर इत्यादि दूसरे मन्त्र का जप करना।

परिधेय वस्त्र में भी आध्यात्मिक रहस्य है। यह तो मानी हुई बात है कि भोजन और वस्त्र का प्रभाव मन पर पड़ता ही है। जिस प्रकार वेषभूषा रहती है वैसी ही बुद्धि होती है। यथा अस्त्र-शस्त्र साथ रहने से हिंसावृत्ति आ ही जाती है। शाक्त को लाल वस्त्र पहनने को कहा गया है। महात्मा कबीर को इसका रहस्य ज्ञात था। उन्होंने कहा है—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गई लाल॥

इसका यह मतलब है कि परा चित्शक्ति की विमर्शशक्ति का वर्ण लाल है, जो अनुरागद्योतक है। आत्मा के यथार्थज्ञान वा ऐक्य की इच्छा ही अनुराग है, जिसका व्यञ्जक रक्तवर्ण है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब अभ्यास और वैराग्य ही से इष्टापत्ति है तब अनुराग का, समावेशजो वैराग्य के सर्वथा प्रतिकूल है, साधन में क्योंकर हो सकता है। राग वा वासना का त्याग वाञ्छनीय है न कि उसका ग्रहण? किन्तु अनुराग से यहाँ परानुराग वा परावासना का मतलब है, जो शुद्ध और मुक्तिदाता है। यह 'विषस्य विषमौषधम्' के समान है। जिस प्रकार काँटे से ही काँटा निकलता

है, उसी प्रकार पर-शुभाहंकार से अपर-अशुभाहंकार का नाश होता है। परलय से अपरलय का नाश होता है। संकल्प से संकल्प का नाश होता है। परमन से अपरमन का नाश होता है। क्योंकि मन से ही मन का निग्रह होता है। राग वा अनुराग का नाश अनुराग से ही होता है।

तिलकधारण भी इसी तात्पर्य से 'रक्तचन्दनेन सिन्दूरेण वा शाक्तः' कहा गया है। विन्दु और तिलक में वस्तुतः भेद नहीं है। ऊर्ध्वमुखी विन्दु ही तिलक है। यह भले ही अनेक प्रकार के हों। क्रमानुसार इसके भिन्न-भिन्न रूप हैं। विन्दु घनीभूता शक्ति का द्योतक है।

भस्म-त्रिपुण्ड्र का भी शास्त्रानुसार धारण करना आवश्यक है। भस्म का यथार्थ तात्पर्य यह है कि यह साम्यज्ञान का द्योतक है। अर्थात् पञ्चमहातत्वों के परब्रह्म में लय होने पर जो अवस्था होती है, उसका द्योतक है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि सत्व, रज और तम इस त्रिगुण को, जो त्रिपुण्ड्र वा त्रिरेखा द्वारा व्यञ्जित होता है, अखण्डाकार वृत्ति से भस्मीभूत कर सच्चिदानन्दावस्था का द्योतक यह भस्म है। इसीलिए इसको विभूति वा ऐश्वर्य कहते हैं, जिसका माहात्म्य शास्त्रों ने इतना गाया है। और सामयिक को पञ्चविध साम्यज्ञान-सूचक भावरूप में इसे धारण करने की आज्ञा दे रखी है।

इस प्रकार प्रातःकृत्यादि से अपने हृदयक्षेत्र में ब्रह्मभाव का बीज बोकर स्नान से मन और शरीर को विशुद्ध कर, सन्ध्योपासना से निष्पाप होकर उचित कपड़े पहने और अपने इष्ट-चिह्न से अङ्कित हो अर्थात् परब्रह्म के विशिष्ट रूप का अनुरागी (भक्त) हो परापूजा के एकमात्र साधन परापरापूजा के लिए यागमन्दिर में जाए।

दूसरा खण्ड

पद्धति के अनुसार स्नान करके कालीक्रम के स्तव का पाठ करते हुए जाकर सामान्यार्घ्य का स्थापनकर द्वार-देवता की पूजा करके विघ्नोत्सारण कर यागमन्दिर में प्रवेश करे। इन क्रियाओं का तात्पर्य्य इस प्रकार है—

(क) कालीक्रम के स्तव से काली-सम्प्रदाय का ज्ञान होता है। यह स्तव विश्वसारतन्त्रोक्त प्राणतोषिणी पत्र ३१५ में है। यह बहुत अनुपम है। इसका अध्ययन योग्य गुरु से करना प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है। ग्रन्थ के विस्तार-भय से स्तव यहाँ दिया नहीं जा सका। इस स्तव में आधार-शक्त्यादि का सिंहावलोकन, ध्यान वा रूप का वर्णन, विद्याराज्ञी का उद्धार एवं फल और पूर्णब्रह्मात्मिका एवं त्रिगुणात्मिका दोनों रूपों की स्तुति है। इसमें भुवनत्रय अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयात्मरूप का नमन करके गुरु को परब्रह्मरूप में, विनायक को स्वतन्त्रब्रह्म रूप में और इष्ट को सच्चिदानन्दरूप में ध्यान करके विद्याराज्ञी वा मन्त्रराज का मनन करते हुए गुणातीता और सगुणरूप में स्तव किया गया है।

(ख) सामान्यार्घ्य—अर्घ्य का अर्थ ज्ञान है। अतएव सामान्यार्घ्य सामान्य-ज्ञान है। सामान्य का भाव इदन्ता है। इदं से विश्व का बोध होता है। विश्व भी कैसा? नाम और रूपरहित विश्व, जिसका यथार्थ-ज्ञान शुद्ध चित्तवृत्ति से होता है और अशुद्ध चित्तवृत्ति से अविद्या की विक्षेपशक्ति द्वारा नाम और रूपसहित विश्व का अयथार्थज्ञान होता है।

सामान्य-ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। इसलिए इसको सत्ता-सामान्य कहते हैं। अतएव इदन्ता के स्फुरण के लिये मन की आवश्यकता है। यह जाग्रतावस्था और स्वप्नावस्था इन दो ही अवस्थाओं में होती है। सुषुप्तावस्था में मन की क्रिया बन्द रहती है, अतएव कोई स्फुरण नहीं होता है। चतुर्थावस्था अर्थात् तुरीयावस्था में केवल यथार्थ विशेष-ज्ञान रहता है कारण तुरीयावस्था केवल पूर्ण विशुद्ध चित्तवृत्ति में होती है। इसी को समाधि कहते हैं।

(ग) द्वारदेवता-पूजा—मोक्षद्वार के चार द्वारपाल हैं—शम, विचार, सन्तोष और साधु-सङ्गम। इनकी पूजा आवश्यक है। चारों की न हो सके तो तीन और तीन भी न हो सके तो दो की अवश्य करे। यही मोक्षरूपी घर के दरवाजे को खोलते हैं। तात्पर्य्य कि बिना शम, विचार, सन्तोष और सत्सङ्ग के मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष के इच्छुक हो न होंगे तो मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधना ही क्योंकर होगी। शम कहते हैं निग्रह अर्थात् वश करने को। मन के वश में होने से इन्द्रियों का निग्रह आप-से आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों का राजा है। परन्तु इतना तो अवश्य है कि इन्द्रिय और मन का निग्रह एक दूसरे पर आश्रित है। परन्तु जो कुछ भी हो, मन का ही निग्रह, जो बड़ा दुष्कर है, वास्तविक निग्रह है। यह केवल अभ्यास और वैराग्य से होता है। तात्पर्य्य यह कि शम वा निग्रह के बिना साधक योगारूढ़ हो ही नहीं सकता कारण योगारूढ़ का कारण शम ही है। दूसरा द्वारपाल है विचार अर्थात् तत्व विचार। इससे वैराग्य आ ही जाता है। सत् और असत् का ही विचार तो सच्चा विचार है। विचार का शब्दार्थ ही है विशेष रूप से मनन। विचार बिना बुद्धि-संयोग के हो नहीं सकता। अतएव विचार से ही संसिद्धि होती है। तीसरा है

संतोष। सन्तोष का शब्दार्थ है पूर्ण प्रकार से तृप्ति। भाव यह कि मन में आई हुई सब कामनाओं का त्याग कर वा अपने ही में अपने से सन्तुष्ट का भाव रहना ही सन्तोष है। सन्तोष की प्राप्ति हो जाने से बाकी क्या रह जाता है? कहावत है—

गोधन गजधन वाजिधन और रतनधनखान।
जब आवै सन्तोषधन सब धन धूलिसमान॥

और चाह गई चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिये, सोई साहंसाह॥

चौथा है साधुसंग या सत्संग। साधु वही है, जो अनन्य होकर भजन करता है। अनन्य को दूसरे का भान नहीं होता। दूसरे का तात्पर्य्य है 'अहं' से। 'तत्' से पृथक् कुछ है ही नहीं, तब दूसरा आया कहाँ से? दूसरा अर्थात् 'अहं' आता है अविद्या से। इसी अहंभाव या अहंकार को हटाने से व्यक्ति साधु कहलाता है। साधु का सङ्ग है सत्सङ्ग, जिससे मोक्षगृह में साधक पहुँचता है। सङ्ग में दोष ही दोष है, किन्तु इस नियम में भी यही एक अपवाद है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

जौ नहाइ चह एहि सर भाई।
सो सत्सङ्ग करउ मन लाई॥

यदि आत्मज्ञानरूपी सरोवर में निमज्जन करना चाहते हो तो मन लगाकर सत्सङ्ग करो। यह हुई स्थूल व्याख्या। सूक्ष्मभाव यह है कि सत् एक ही वस्तु है, जो ब्रह्म है। उसका सङ्ग अर्थात् सर्वदा गुरु, मन्त्र वा इष्टरूप में मनन करना है। तीनों एक ही हैं, अतएव किसी एक रूप के मनन से काम चल जाता है। सत्सङ्ग के शब्दान्तर साधुसङ्ग के अर्थ में मनन का तात्पर्य्य गुरु का, जो सभी साधुओं से बड़ा साधु है, मनन करना सबसे ठीक जान पड़ता है।

द्वारदेवता महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार कालीकुल में आठ हैं—१ गणेश, २ क्षेत्रफल, ३ वटुक, ४ योगिनी, ५ गङ्गा, ६ यमुना, ७ लक्ष्मी और ८ वाणी। किन्तु शाक्तानन्दतरङ्गिणी में गणेश, क्षेत्रपाल, वटुक और योगिनी चार ही द्वारदेवता माने गये हैं। और जैसा नित्योत्सव में लिखा है, श्रीकुल में वे तीन ही हैं-१ भद्रकाली, २ भैरव और ३ लम्बोदर। शम का समन्वय वटुकभैरव से हो सकता है और सन्तोष का समन्वय लम्बोदर या गणेश से होता है। यहाँ गणेश के लम्बोदर के ही रूप में समन्वय है न कि विनायक के रूप में। ऐसे ही और समन्वय हैं। विचार का योगिनी से, जो आध्यात्मिक अनुसन्धानवृत्ति का द्योतक है, और साधुसङ्ग का क्षेत्रपाल से समन्वय है।

(घ) विघ्नोत्सारण—विघ्न या बाधाओं को हटाना। शुभ कार्यों में बहुत सी बाधायें होती हैं। प्रलय या मृत्यु का तो हर समय डर है। इनके अतिरिक्त अन्य बाधायें भी हैं, जो दो प्रकार की हैं—बाहरी और भीतरी। इनमें भीतरी ही जबर्दस्त हैं। क्योंकि भीतरी पर विजय पा जाने से बाहरी पर विजय पाना सहज है। ब्रह्मोपासना (परापूजा) में, जो ज्ञानयज्ञ है, द्वैतभावना ही महाविघ्न है। इस द्वैतभावना को पूज्य और पूजक वा ज्ञातृ और ज्ञेय में अभेदभाव से हटाना है, तभी परापूजा होगी।

(ङ) यागमण्डप-प्रवेश—'तदनन्तर मौन हो यागमन्दिर में आवे।' यहाँ तदनन्तर का मतलब है उसके बाद। तब स्वतः प्रश्न होता है कि किसके बाद। इसका उत्तर है कि आदि से जैसी प्रक्रिया कही गई है, उसके अनुसार करे। सबसे प्रथम सम्बन्ध-स्थापन आवश्यक है। फिर गुरु की आवश्यकता, गुरु से दीक्षा ग्रहण कर उपदेशानुसार प्रातःकृत्य से संध्योपासन तक की क्रियायें करके अपने को परापूजा का अधिकारी

बनाना है, तब मौन होकर अर्थात् वाचिक, कायिक और मानसिक संयम करके अन्य शारीरिक क्रियायें करे।

मौन का तात्पर्य्य है आत्मनिग्रह से। यह सब करके ही यागमण्डप में प्रवेश करे। अब यागमण्डप किसको कहते हैं, यह प्रश्न है। यज्ञ दो प्रकार के हैं क्रियायज्ञ और ज्ञानयज्ञ। क्रियायज्ञ के करनेवाले हैं मायायुक्त और ज्ञानयज्ञ के, जो क्रिया-द्रव्यमय यज्ञों से कहीं श्रेष्ठ है, करनेवाले हैं ज्ञानीजन। ये अद्वैत-ज्ञानी हैं।

ऐसे अद्वैतज्ञानी के यज्ञ का यजमान है आत्मा, अर्द्धाङ्गिनी है श्रद्धा, शरीर है मन्दिर, उरू है वेदी, शिखा है वेद, यूप है हृदय, आज्य काम है, मन्यु पशु है, अग्नि है तप, वचन है होता, प्राण है उद्गाता, मन है ब्रह्म और शमयिता ही दक्षिणा है इत्यादि। यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त है कि ज्ञानयज्ञ में, यह किसी भी प्रकार का हो, शरीर ही यागमन्दिर है। इस देह-रूपी यागमन्दिर में पश्चिमद्वार से पूजा करने के लिए प्रवेश करे। दूसरे शब्दों में देवता वा ब्रह्म को सामने अर्थात् पूर्व रखकर अर्थात् ब्रह्मभाव का लक्ष्य ध्यान में रखकर ही याग-मन्दिर अर्थात् निदिध्यासन-अखण्डाकार वृत्ति में प्रवेश करे। कारण आधार वा ज्ञानधार के पश्चिम अर्थात् पूर्व लिंगरूपी दरवाजा है। इस लिंग का समन्वय मूलाधारस्थित स्वयम्भू-लिंग से है, जो सार्धत्रिवलयाकृत कुण्डली से आच्छादित है। इसी को हठयोगी वा कुण्डली-योगी जगाकर लिंगद्वार को खोल तेजोराशि का स्फुरण करता है। इसी को ज्ञानयोगी अविद्यारूपी किवाड़ को खोल अखण्डाकार वृत्ति में प्रवेश करता है अर्थात् साधक को 'तत्वमसि' महावाक्य का ज्ञान होता है।

(च) संकल्प अर्थात् पूजा करने का संकल्प—नित्यक्रिया में संकल्प की आवश्यकता नहीं कही गई है। संकल्प एक बन्धन है। बन्धन होने पर ज्ञानयज्ञ—परा पूजा में यह क्यों, इसकी विवेचना करनी जरूरी है। संकल्प देश-काल का उल्लेख करके होता है। सङ्कल्प दो प्रकार के हैं—१ शुद्ध २ अशुद्ध। शुद्धसङ्कल्प है निष्काम और दूसरा है सकाम, जो अशुद्ध है। सङ्कल्प करने का तात्पर्य्य ही यह है कि निष्कामसङ्कल्प-द्वारा सङ्कल्पात्मक बन्धन का खण्डन हो। वही पण्डित कहा गया है, जो कामसङ्कल्पवर्जित है। 'निष्फलाकांक्षी होकर ही यज्ञ करना चाहिये' इस भाव से करने से संकल्प शुद्ध हो जाता है। नित्यअर्च्चा में मानसिक सङ्कल्प रहता है। इसी का शोधन करना चाहिये। नैमित्तिक तो कामना लेकर ही किया जाता है। इस हेतु परापूजा में नैमित्तिक का समावेश ही नहीं है।

(छ) आसनोपवेशन—पद्धति कहती है कि भूमि का शोधन करके ही आसन रखना चाहिये। वचन, कर्म और मनरूपी आधार-भूमि का शोधन करके फिर से सब प्रकार से विधिवत् शोधन करे। इसका मन्त्र है—

ॐ पवित्रवज्रभूमे हूं फट् स्वाहा।

मन्त्र का सूक्ष्मार्थ इस प्रकार है—'ॐ' यानी ब्रह्म, 'पवित्र' यानी ब्रह्म क्योंकि पवित्र अथवा शुद्ध एकमात्र ब्रह्म है, 'वज्र' ब्रह्म का ही नाम श्रुतियों में कहा गया है, 'भूमि' या भूः भी ब्रह्म का ही नाम है, 'हूं' कवचबीज है, जो व्यापक है अर्थात ब्रह्म है, 'फट्' अस्त्रद्योतक है, जिससे अविद्या का नाश (अहंभाव का त्याग) करते हैं, 'स्वाहा' समर्पण का द्योतक है। अतएव पूरे मन्त्र का तात्पर्य्य है ब्रह्म में आत्मसमर्पण वा तादात्म्यभाव। इसके बाद त्रिकोण रक्तचन्दन से लिखना है। यहाँ पराग्र त्रिकोण है कारण यह पर की ओर चित्तवृत्ति को

ले जाने को कहता है। इस त्रिकोण पर आधारशक्ति कुमलासन की पूजा होती है। इससे मतलब है मूलाधारशक्ति कुण्डलिनी का, जिसको षट्‌दलकमल अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा भेद कर सहस्रदल में परशिव से मिलना है।

ये छहो क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मानसतत्व हैं। इड़ा और पिंगला, जिनको सूर्य्य और चन्द्र कहते हैं, वस्तुतः बुद्धि और अहंकार हैं। इन्हीं आठों से प्रकृति है। इन्हीं का आसन बना इनके परे की तादात्म्य भावना करनी है। इसी को परिणामावलोकन स्थिति उपनिषदों में कहा गया है। योगासन, वीरासन, शरासन से भी यही तात्पर्य्य सिद्ध होता है। योगासन का अर्थ ही सूक्ष्मभाव से 'तत् त्वम्' के योग की स्थिति है। वीरासन का भी अर्थ है वीर की स्थिति। वीर तो मुख्यतया परशिव या ब्रह्म ही है। वीरस्थिति आनन्द-स्थिति है, जिसका दूसरा नाम शरासन है।

(ज) आचमन—आचमन से आत्मतत्व, विद्यातत्व और शिवतत्व इन तीन तत्वों से बोधित शरीर के आणविक, मायिक और कार्मिकमल का शधोन है। ये तीनों मल क्रमशः तीनों शरीरों अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण के हैं। इनके अभिमानी क्रमशः विश्व, तैजस और प्राज्ञ हैं। ये तीनों तत्व कर्त्ता, कारण और कार्य्य के बोधक हैं। आचमन से इन्हीं तीनों भावों के ज्ञान के विशोधन का तात्पर्य्य है। आचमन दो प्रकार के हैं—तत्वाचमन और मन्त्राचमन। जिस तरह तत्वाचमन का तात्पर्य तत्वज्ञान से है, उसी प्रकार मन्त्राचमन मन्त्रज्ञान का सूक्ष्म-रूपेण बोधक है। इस आदिविद्या में एक तीसरे प्रकार का भी आचमन है, जो प्रायः और महाविद्या-सपर्य्या में नहीं दीखता है। यह है नित्याचमन अथवा पञ्चदशी नित्याकाली,

कपालिनी, कुल्ला, कुरकुल्ला, विरोधनी, विप्रचित्ता, उग्रा, उग्रप्रभा, दीप्ता, नीला, घना, वलाका, मात्रा, मुद्रा, मिता के आचमन। इसकी विधि अपरापूजा की होने से इसका उल्लेख यहाँ नहीं किया है। परन्तु इसके तात्पर्य्य का उल्लेख करना उचित है। ये पन्द्रहो नित्याएँ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँचो प्राण के अधिष्ठातृदेवता हैं। ये ही पञ्चत्रिकोण में स्थित हैं। नित्याऽचमन से इन्हीं दश इन्द्रिय और पञ्चप्राणों से तात्पर्य्य है। और भी आचमन हैं, जो गौण हैं। अतएव यहाँ उल्लेखनीय नहीं हैं। इसकी कर्त्तव्यता एक ही बार में समाप्त नहीं हो जाती है। जैसे प्राणायाम पूजा में कई बार आवश्यक है, वैसे ही आचमन प्राणायाम आदि के पूर्व आवश्यक है। पूजा या निदिध्यासन में कभी इतस्ततः मनोयोग हुआ कि चित्तवृत्ति को अखण्डाकारवृत्ति में लाने के हेतु आचमन किया जाता है। इसकी पूर्णता प्राणायाम से हो जाती है। अर्थात् 'अहन्ता' और 'इदन्ता' भाव को आचमन-द्वारा सम्वरण करके ही प्राणायाम-द्वारा सोहंभाव का दृढ़ीकरण होता है।

(झ) शिखाबन्धन—जैसे सैनिक अस्त्रशस्त्र बाँधकर तैयार हो संग्राम के लिए यात्रा करता है, वैसे ही कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी अपने-अपने क्रम के अनुसार तैयार हो आत्मान्वेषण-रूप परापूजा के लिए प्रस्तुत होते हैं। इससे चित्तवृत्ति का दृढ़ीकरण होता है। यह कर्मकाण्ड में आवश्यक है। किन्तु परापूजा या ज्ञानयज्ञ में इसलिए है कि उपासक को यह ध्यान रहे कि वह कर्मकाण्ड का जीव होते हुये भी परमात्मा से भिन्न नहीं है। यह पूजान्त की आनन्दावस्था के प्राविर्भाव तक ही विहित है। उसके बाद उपासक मुक्तकेश, जो ब्रह्मभावावस्था का द्योतक है, रहता है अर्थात् मायाबन्धन से, जो शिखाबन्धन

का तात्पर्य्य है, मुक्त हो जाता है। ब्रह्मभावावस्था में शिखा की, जो कर्मकाण्ड में आवश्यक है, आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसीलिए संन्यासी शिखा का एकदम त्याग करते हैं। अर्थात् काट कर अग्नि में समर्पण कर देते हैं। शिखा रक्षामन्त्र से बाँधी जाती है—

ॐ मणिधरि वज्रिणि महाप्रतिसरे रक्ष रक्ष हूं फट् स्वाहा।

रक्षा किससे ? अविद्या से रक्षा। 'नमः' मन्त्र से भी यह बाँधी जाती है। नमः का शब्दार्थ जीवभाव का द्योतक है और सूक्ष्मार्थ है 'न' अर्थात् मैं नहीं हूँ, 'मः' अर्थात् जीव। तात्पर्य कि मैं जीव नहीं, शिव हूँ। इसकी मुद्रा भी अंकुशमुद्रा है। इससे अविद्या वा जीवभाव के नियन्त्रण से तात्पर्य्य है।

(ञ) दिग्बन्धन—देह के दश द्वार हैं और दिक् वा दिशा भी दश हैं। दशो दिशाओं से तात्पर्य्य है पञ्चकर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों से। इन्हीं के बन्धन से दशदिग्बन्धन का तात्पर्य है। इनके बन्धन से मन का, जो मोक्ष और बन्ध का मूल कारण है, बन्धन वा निग्रह होता है। इससे नाम और रूप अर्थात् माया का अवरोध होता है। इसी प्रकार ब्रह्मभाव का लाभ होता है।

(ट) देहरक्षा—देह देवता का घर है। देवता इसमें वास करता है। अतएव इसकी रक्षा करनी है। यही ज्ञान कि ब्रह्म मुझी में है अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ वा ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ, क्योंकि ब्रह्म के सिवा और दूसरा कुछ है ही नहीं, रक्षा है। इसका यह भी मतलब है कि देहरूपी घर इस प्रकार परिष्कृत रहे कि नित्यशुद्ध देवता उसमें रह सके। ऐसा न हो कि घर गन्दा हो जाय, जिससे देवता न रहे। यह दूषित होता है अविद्या के 'अहंभाव' से, जिसके आने से दूसरे सहकारी काम, क्रोधादि मल साथ ही आ जाते हैं। अतएव इसी अहंभाव से रक्षा

करनी है। इसी के लिए महामेधरूपी इष्ट से साधक प्रार्थना करता है। और अपने को वह्नि-प्राकार अर्थात् अग्निज्वाला से वेष्टित भावना करता है। इसी पारमेश्वरी तनु (शरीर) का प्राकार (दीवार) अग्निज्वाला है। यह शुभ परमस्फुट प्रकाश है। इसी में विषयवासना का विनाश होता है।

(ठ) देहशुद्धि—देह को इष्टदेवता का घर समझना ही वास्तविक देहशुद्धि है। जिस स्थान में सच्चिदानन्द ब्रह्म रहे, वह स्थान अशुद्ध हो नहीं सकता। अशुद्धि के रहने से ही स्थान अशुद्ध होता है न कि विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द के रहने से ज्ञानयोगी ही ऐसा समझता है, दूसरा नहीं।

पद्धति में देहशुद्धि के अनेक मन्त्र दिये हैं। किसी क्रम में एक प्रकार का मन्त्र है, तो दूसरे में दूसरे प्रकार का। इन सबका लक्ष्य एक ही है। एक मन्त्र यह भी है—'ऐं ह्नः अस्त्राय फट्'। मन्त्र के अर्थ के मनन से ही त्राण होता है, न कि पढ़ लेने से। मन्त्रों के अर्थ का जितना ही अच्छा ज्ञान होगा, उतना ही तत्वार्थ वा तात्पर्य्य समझेगा। 'ऐं' वाग्वीज अर्थात् ज्ञान-वीज है और 'ह्नः' अस्त्रवीज है। मतलब कि ज्ञानरूपी अस्त्र वा 'फट्' से प्रहार करते हैं। किस पर? अविद्या पर अर्थात् उसे दूर करते हैं, और अविद्या के कारण ही हम शरीर के जीव को शिव से भिन्न मानते हैं। इस प्रकार के ज्ञान से ही देहशुद्धि होती है, न कि स्नानादिक वाह्यक्रिया से। वाह्यक्रिया कुछ अंश में सहायता मात्र देती है।

तृतीय खण्ड

(क) गुर्वादि प्रणाम—पद्धति कहती है कि सबसे पहले गुरु, तब गणेश, तब मध्य में इष्टदेवता को प्रणाम करे। जब गुरु और देवता एक ही हैं तो यहाँ गुरु का प्रणाम पहले क्यों कहा है ? पहले और बाद का नियम अधिकारी-भेद पर निर्भर करता है। गुरु ही ध्यान, मन्त्र, मत और आचार आदि का मूल है। इसलिए गुरु को पहले प्रणाम करना चाहिये। एक बात यह भी है कि गुरु आदि वा मूलशक्ति है क्योंकि यह ज्ञान वा विमर्श-शक्ति है, जिसके बिना चित्शक्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती है। गुरु के बाद अपने दाहिने भाग में गणेश वा विनायक को प्रणाम करना लिखा है।

गणेश स्थूलरूप से विघ्नेश है अर्थात् विघ्नबाधाओं को हटानेवाला है। अतएव विघ्न को दूर करने के लिये उनका नमन आवश्यक है परन्तु ज्ञानयज्ञ में उनको केवल विघ्नेश ही न समझकर विनायक अर्थात् ब्रह्म समझ उनके प्रति नमन अर्थात् तादात्म्यभाव का सूचक आत्मसमर्पण है। गणेश मन्त्र वा विद्या का द्योतक है। इसी विद्या से अविद्यारूपी विघ्न हटाया जाता है। इस प्रकार साधक विमर्श और विद्याशक्ति में सम्वेश-कर ब्रह्मरूपिणी इष्टदेवता में सम्वेशकर स्थिर हो जाता है।

(ख) प्राणायाम—प्राणायाम का शब्दार्थ है प्राणवायु का नियन्त्रण। प्राणायाम वर्णात्मक है। अतः प्रणव (मन्त्र) ही प्राणायाम है। प्राणायाम दो प्रकार के हैं सगर्भ और निगर्भ। सगर्भ मन्त्रसंख्या से और निगर्भ मातृका संख्या से है।

प्राणायाम हठयोग की मुख्य क्रिया है। इसकी कम वा अधिक आवश्यकता प्रत्येक प्रकार के योग में होती है।

तन्त्र की यह विशेषता है कि इसमें वेदान्त, पूर्वमीमांसा (कर्मकांड जो अपरापूजा है), सांख्य, वैशेषिक, शब्ददर्शन इत्यादि के साथ योगदर्शन के सार का भी समावेश है। प्राणायाम की क्रिया के तीन भाग हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। पूरक उसे कहते हैं, जिससे बाहर का वायु श्वास-द्वारा भर लिया जाता है। कुम्भक कहते हैं भर कर रख लेने की क्रिया को और रेचक कहते हैं निःश्वास द्वारा वायु को बाहर कर देने की क्रिया को। ज्ञानयज्ञ (योग) में पूरक से शास्त्र-विज्ञान, कुम्भक से आत्मज्ञान और रेचक से सब विषय में ब्रह्मज्ञान का तात्पर्य्य है। इनकी मात्रा रखी गई है। मात्रा से कम या अधिक करने से शरीर की हानि होती है। प्रारम्भिक अवस्था में साधारणतया पूरक का समय १, कुम्भक का ४ और रेचक का २ शास्त्रों में निर्द्धारित है। पूरक इड़ा नाड़ी अर्थात् चन्द्र (बाएँ) श्वास से होता है और रेचक पिङ्गला अर्थात् सूर्य (दाहने) श्वास से होता है। इस प्रकार तीन, पाँच या सात बार करना होता है। यह व्यावहारिक विज्ञान है। यह मूलमन्त्र (द्वाविंशाक्षर-मन्त्रराज) से किया जाता है और साधक की योग्यता के अनुसार ही मात्रावृद्धि की जाती है। आरम्भ में जैसे एकाक्षर-वीज का जप होता है, वैसे ही एकाक्षर-मूलमन्त्र से ही प्राणायाम किया जाता है। इससे चित्त एकाग्र होता है। प्राणायाम के बिना ज्ञान पूरा फल नहीं दे सकता है। केवल प्राणायाम की साधना से भी इष्ट-सिद्धि होती है। परन्तु इसे गुरु के आदेशानुसार ही करना चाहिये नहीं तो अनिष्ट हो सकता है। प्राणायाम की एक विधि है वायु-द्वारा मन का निरोध, दूसरी है मनोनिरोध-द्वारा

वायु-निरोध। वस्तु एक है। अपनी अपनी रुचि और योग्यतानुसार करना होता है, मगर करना है जरूर।

(ग) ऋष्यादिन्यास—ऋष्यादिन्यास में ऋषि, छन्द, देवता, वीज, शक्ति और कीलक का न्यास होता है। न्यास का भावार्थ यह है कि साधन-क्रिया से प्राप्त ज्ञान के द्वारा सब अङ्गों में देवता-भाव स्थापित कर अविद्या से जो रक्षा करे, उसी का नाम न्यस्त है। न्यास शब्द के दो अर्थ हैं—एक है त्याग जिसमें सम् + न्यासी संन्यासी कहते हैं। और दूसरा है स्थिति जिसमें न्यस्त अर्थात् स्थिति कहते हैं। परापूजा में न्यास के दोनों अर्थ लिये जाते हैं। अहंभाव के त्याग के बाद मन्त्रार्थक वा नामार्थक पदार्थ की स्थिति की जाती है। अपरा-पूजा में केवल स्थिति के अर्थ में ही न्यास किया जाता है। अर्थात् अंग में उसकी रक्षा-हेतु मन्त्र का न्यास होता है। सिर पर महाकाल का, जो गुणातीता काली के ऋषि अर्थात् सर्वप्रथम उपासक हैं, न्यास होता है। कारण यही कालीकुल के आदिगुरु—परमेष्ठी गुरु हैं। उष्णिक्छन्द का मुख में न्यास है। कालीकुल का मुख्य छन्द यही मातृकावर्णों की योजना का छन्द है और मातृका से सृष्टि है। यथा विन्दु से ध्वनि हुई, ध्वनि से मातृकावर्ण हुये और मातृका से नाम। इसी प्रकार सारे जगत् की सृष्टि हुई। छन्द ही सावित्री है और सविता है यज्ञ। अतएव जहाँ यज्ञ है, वहीं छन्द है। दोनों मिथुन वा युग्म हैं। दोनों के एक होने से ही फलोत्पत्ति है। जैसे यज्ञ के भिन्न भिन्न रूप हैं, वैसे ही छन्दों के भिन्न भिन्न रूप वा तात्पर्य हैं। हृदय में देवता का न्यास होता है अर्थात् जीव में इष्ट-देवता की स्थापना अर्थात् ऐक्य की भावना होती है। गुह्य में 'ह्रीं' वीज का न्यास है। गुह्य से तात्पर्य है गुप्तस्थान वा मूलाधार। वहीं पर मन्त्र का स्थान है कारण कुण्डली ही सुप्त

मन्त्रात्मिका शक्ति है। मन्त्रचैतन्य इसी कुण्डली की चैतन्यता से होती है। पाद में 'हूं' शक्ति का न्यास है। शक्ति से तात्पर्य है देवता की शक्ति से। इस शक्ति को ऊर्द्धगामिनी करना साधना का लक्ष्य है। शरीर का सबसे नीचा अङ्ग पैर ही है। यहीं से शक्ति को ऊपर उठाते-उठाते शरीर के सबसे ऊँचे अंग ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाकर एकीकरण होता है। सर्वाङ्ग में 'क्रीं' कीलक का न्यास है। यह सबसे अन्त में है। तात्पर्य्य कि 'क्रीं' जो कालीवीज कहा जाता है, सर्वाङ्ग में निष्कीलन का काम करता है। अर्थात् अविद्यारूपी काल को हटाकर ऐक्य-भाव स्थापित करता है।

करन्यास—यह पाँचों अँगुलियों, करतल और करपृष्ठ पर मूलमन्त्र के वीज को छः प्रकार से दीर्घ वनाकर किया जाता है, यह करशुद्धिन्यास कहा जाता है क्योंकि इससे करशुद्धि होती है। इस न्यास से यह धारणा की जाती है कि 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, न मेरा कार्य है। मैं केवल साक्षी हूँ।'

षडङ्गन्यास—यह हृदय, शिर, शिखा, दोनों पार्श्व (कवच), नेत्रत्रय और करतल इन छः अङ्गों में होता है। पहले पाँच अङ्गों में एक एक दीर्घ वीजमन्त्र से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच शरीरों की शुद्धि होती है। और अन्तिम करतल से अविद्या का वोध है, जिसको 'क्रः अस्त्राय फट्' से दूर हटाकर आनन्दमय स्थिति का दृढ़ीकरण होता है।

व्यापकन्यास—यह मूल से ३, ५ वा ७ वार शिर से पैर तक और पुनः पैर से शिर तक किया जाता है। इसका तात्पर्य है कि सारा शरीर मन्त्रमय अर्थात् देवतामय है। अतएव इससे ऐक्य की भावना होती है।

(घ) भूतशुद्धि—नाम और रूप-द्वारा प्रपञ्चात्मक जगत् की जो धारणा जिस भाव से होती है, वह सब भूत है। कोई जीव मात्र को ही भूत कहते हैं। जीव तो वास्तव में ब्रह्म का अंश शिवरूप है। जैसे घटाकाश मठाकाश वास्तव में चिदाकाश ही हैं, वैसे ही जीव शिव ही है। जैसे घट और मठ से ढंके आकाश नाम और रूप घट और मठ के हट जाने पर चिदाकाश ही हैं, वैसे ही अविद्या से ढँका जव उसके हट जाने से शिव होता है। संक्षेप में इदन्ताभाव अर्थात् 'इदं तव' वा 'इदं मम' का भाव हटना ही भूतशुद्धि है। आत्मा और परमात्मा की ऐक्य-भावना से भी भूतशुद्धि पूर्ण नहीं कही जा सकती है। वह पूर्ण तभी होती है, जब अपने को क्या, सारे प्रपञ्चात्मक जगत् को इसी भाव से देखा जाय।

भूतशुद्धि की प्रक्रिया इस प्रकार है। जीवात्मा मूलाधार में, जो अन्धतामिश्र स्थान है, अज्ञान वा अविद्या से ढँककर रहता है। उसे सुषुम्णा के पथ से षट्चक्र का भेदन कर हठयोग-क्रिया से और ज्ञानयोग में छः भूमिकाओं में से ऊपर को उठा सहस्रार वा ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् ज्ञान की चरम सप्तम भूमिका में, जहाँ परशिव रहता है, परशिव से मिलाया जाता है। भूतशुद्धि की क्रिया में 'यं' वा वायुवीज से मलशोषण करके 'रं' वा वह्निवीज से दहन करते हैं। 'लं' वा पृथ्वीवीज से शाम्भव शरीर का निर्माण कर 'वं' अमृतवीज से सहस्रार-स्थित अमृत से उसे सींचकर दृढ़ बनाते हैं।

(ङ) प्राणप्रतिष्ठा—जब जीवात्मा की अविद्यारूपी उपाधि हट जाती है अर्थात् भूतशुद्धि हो जाती है, तब प्रत्यगात्मा वा कूटस्थ आत्मा रहता है। इसी का दृढ़ीकरण है प्राणप्रतिष्ठा की क्रिया। इसमें ३ बार हृदय पर लेलिहाना मुद्रा से हाथ

रख 'आं सोहं' मन्त्र से प्राण की प्रतिष्ठा की जाती है। लेलिहानामुद्रा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय या ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय इत्यादि के एकीकरण का द्योतक है। अर्थात् चित्तवृत्ति को अखण्डाकार में ले आने का संकेत है। मुद्रा शब्द के कई अर्थ हैं, परन्तु यहाँ इससे मौन-भाव के प्रदर्शन से मतलब है। अस्तु, 'आं' ब्रह्म की विमर्शशक्ति का द्योतक वीज है। इसी के मनन से जीव अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरों से परे शाम्भव शरीर का दृढ़ीकरण करता है। इसीलिए कादि, हादि और कहादि कुल के उपासक शाम्भव कहलाते हैं कारण वे शिव के हो गये अर्थात् जीव और शिव में पृथक्ता नहीं रह जाती है। इसको समाधि कहते हैं। प्राण ही आत्मा वा ब्रह्म है। आत्म-प्राणप्रतिष्ठा से इसी ज्ञान का दृढ़ीकरण होता है।

चतुर्थ खण्ड

न्यासजाल—भूतशुद्धि और आत्म-प्राणप्रतिष्ठा कर लेने पर अर्थात् देवता और मैं एक हूँ, इस प्रकार की भावना दृढ़ हो जाने पर साधक अपने शाम्भव देह को न्यासजाल अर्थात् अनेक प्रकारों के न्यासों से खूब दृढ़ करे। न्यास का विशेषण है वज्रकवच। कवच का अर्थ है शरीर-रक्षिका शक्ति। जैसे सैनिक युद्ध में जाने से पूर्व लौह कवच से अपने शरीर को सुरक्षित कर लेता है, वैसे ही जीव विद्या और अविद्या के द्वन्द्व युद्ध में अपने सद्योजात शाम्भव शरीर को, जो अभी तक पूर्णतया दृढ़ नहीं हुआ है, न्यासरूप वज्रकवचों से सुरक्षित करता है ताकि उसकी परम शत्रु अविद्या उसके नवीन कोमल शरीर को कहीं पर फोड़ न दे। दूसरा मतलब न्यासजाल से यह है कि 'साहं' वा 'सोहं' भाव आने पर 'सा' वा 'सः' के त्रिरूप—स्थूल, सूक्ष्म और कारण का भी ज्ञान आवश्यक हो जाता है। स्थूलरूप में अपरापूजा मुख्यतया कर्मेन्द्रियों से होती है, जो प्रारम्भिक साधकों के निमित्त है। अतएव इसकी यहाँ विवेचना करना अयुक्त है। पुनः कारण और परभाव चैतन्यता के विषय होने से उत्तमाधिकारी अर्थात् कौलों के लिये ही है, उसका भी यहाँ उल्लेख अयुक्त है। केवल सूक्ष्मभाव से पराऽ-परापूजा का, जो वीरों के लिये है, अनुसन्धान करना है क्योंकि इससे परापूजा का रहस्योद्घाटन होकर ज्ञान होता है।

परदेवता का सूक्ष्मरूप वर्णात्मक वा मन्त्रात्मक है। आद्या के जो एकाक्षर प्रणव क्रीं, द्वयक्षर, त्र्यक्षर, पञ्चाक्षर, सप्ताक्षर,

षोडशाक्षर, द्वाविंशाक्षर (मन्त्रराज) से ले शताक्षर, अयुताक्षर महामन्त्र हैं, सभी सूक्ष्मरूप से उसके शब्दरूप हैं। अर्थात् 'अ' से 'क्ष' तक उसी के रूप हैं। यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि मातृका से मन्त्र होते हैं। देवता का कल्पित स्थूलशरीर, जो साधक अपने सुभीते के लिए अपनी रुचि के अनुसार कल्पना करता है, उसके अवयव अर्थात् शिर से लेकर पैर तक के अङ्ग इन्हीं मातृकाओं से बने हैं। यह सूक्ष्मरूप से चित्-शक्ति के कल्पित शरीर का तात्पर्य है। इन अक्षरों के श्रुति के अनुसार ये लक्षण हैं, जो ब्रह्म के गुणों को लक्षित करते हैं—

१ अङ्कार, मृत्युञ्जय सर्वव्यापक में है। २ आंकार आकर्षणात्मक सर्वगत। ३ इङ्कार, पुष्टिदाता अक्षोभकर। ४ ईंकार, वाक्प्रसादकर निर्मल। ५ उंकार, सर्वबलप्रद सारतर। ६ ऊंकार, उच्चाटनकर दुःसह। ७ ऋङ्कार, संक्षोभकर चञ्चल। ८ ॠङ्कार, सम्मोहनकर उज्ज्वल। ९ लृङ्कार विद्वेषणकर मोहक। १० ॡङ्कार, केवल मोहक। ११ एङ्कार सर्ववश्यकर शुद्धसत्व। १२ ऐंकार, शुद्ध सात्विकपुरुष वश्यकर। १३ ओंकार अखिल वाङ्मय नित्यशुद्ध। १४ औंकार, सर्ववाङ्मय वश्यकर। १५ ंकार गजादिवश्यकर मोहन। १६ ः कार, मृत्युनाशकर रौद्र। १७ कङ्कार, सर्वविषहर कल्याणद। १८ खंकार, सर्वक्षोभकर व्यापक। १९ गङ्कार सर्वविघ्नशमन महत्तर। २० घङ्कार, सौभाग्यद स्तम्भनकर। २१ ङङ्कार, सर्वविषनाशकर उग्र। २२ चङ्कार अभिचारघ्न क्रूर। २३ छङ्कार भूतनाशकर भीषण। २४ जङ्कार कृत्याधिनाशकर दुर्धर्ष। २५ झङ्कार, भूतनाशकर। २६ ञंकार, मृत्यु-प्रमथन। २७ टंकार, सर्वव्याधिहर सुभग। २८ ठंकार, चन्द्ररूप। २९ डङ्कार, गरुड़ात्मक विषघ्न शोभन। ३० ढङ्कार, सर्वसम्पत्प्रद सुभग। ३१ णंकार, सर्वसिद्धिप्रद मोहकर। ३२ तङ्कार, धनधान्यादि सम्पत्प्रद प्रसन्न। ३३

थङ्कार धर्मप्राप्तिकर निर्मल । ३४ दङ्कार, पुष्टिवृद्धिकर प्रियदर्शन । ३५ धङ्कार, विषज्वरघ्न विपुल । ३६ नङ्कार, भुक्तिमुक्तिप्रद शान्त । ३७ पङ्कार, विषविघ्ननाशन भव्य । ३८ फंकार, अणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतिरूप । ३९ बङ्कार, सर्वदोषहर शोभन । ४० भङ्कार, भूतप्रशान्तकर भयानक । ४१ मंकार, विद्वेषिमोहनकर । ४२ यंकार, सर्वव्यापक पावन । ४३ रंकार, दाहकर विकृत । ४४ लङ्कार, विश्वम्भर भासुर । ४५ वंकार, सर्वाप्ययनकर निर्मल । ४६ शंकार, सर्वफलप्रद पवित्र । ४७ षंकार, धर्मार्थकामद धवल । ४८ संकार, सर्वकारण सार्ववर्णिक । ४९ हंकार, सर्ववाङ्मय निर्मल । ५० लंकार, सर्वशक्तिप्रद प्रधान । ५१ क्षंकार, परापरस्तत्वज्ञापक परंज्योतिरूप ।

(क) मातृकान्यास—यह तभी किया जाता है, जब साधक अपने को परशिव से भिन्न नहीं समझता है । यह मुख्यतया दो प्रकार का होता है—बाह्य और अन्तर । इसके तीन क्रम हैं सृष्टि, स्थिति और संहार । अपने-अपने मार्ग के अनुसार वैष्णव केशवादिमातृका, शैव श्रीकण्ठादि, गाणपत्य गणेशमातृका और शाक्त कलामातृका करते हैं । इसी प्रकार मातृकान्यास के अनेक भेद हैं । पुनः मातृका के चार प्रमुख भेद हैं—

१ केवल मातृका, २ अनुस्वारयुक्त मातृका, ३ विसर्गयुक्त मातृका और ४ विन्दुविसर्गयुक्ता । सृष्टिक्रम ब्रह्मचारी के, स्थितिक्रम गृहस्थ के और संहारक्रम वाणप्रस्थ तथा संन्यासी के हेतु है । इस नियम में भी अपवाद हैं । जैसे विरक्त गृहस्थ संहारक्रम से भी कर सकते हैं । वाणप्रस्थ, जो सपत्नीक हैं, स्थितिक्रम से भी कर सकते हैं । और ब्रह्मचारी भी संहारक्रम से कर सकते हैं । केवल बाह्य और अन्तर्मातृकान्यास का ही तात्पर्य्य लिखा जाता है ।

वहिर्मातृकान्यास 'अ' से लेकर 'क्ष' तक ५१ वर्ण शरीर के ५१ मुख्य-मुख्य अङ्गों में न्यस्त होते हैं। इन्हीं ५१ स्थानों में शिव अर्थात् इष्टदेवता रहता है। तात्पर्य्य कि इन्हीं स्थानों में देवता का ज्ञान होता है। दूसरा तात्पर्य्य यह भी है कि शाम्भव देह शब्दब्रह्म का ही बना है अर्थात् शरीर ब्रह्ममय है। इसी भावना के दृढ़ीकरण के लिए यह न्यास होता है।

अन्तर्मातृका मानसिक न्यास है, जो केवल ५० वर्णों को लेकर ही किया जाता है अर्थात् द्वितीय लकार को, जो क्ष के पूर्व होता है, छोड़कर ही किया जाता है। इन वर्णों का क्रमशः मूलाधार में ४, स्वाधिष्ठान में ६, मणिपुर में १०, अनाहत में १२, विशुद्ध में १६ और आज्ञा में २ बार न्यास किया जाता है। इसका तात्पर्य्य है कि छहों चक्र क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन के स्थान हैं। इन्हीं छहों को ब्रह्मव्याप्त करके इस भाव में जीव आता है।

(ख) कलामातृकान्यास—यह शाम्भवों के लिए आवश्यक है। कारण वाचातीता पराकला का ज्ञान उसकी कलाओं के ज्ञान के विना असम्भव है। कलाज्ञान को चक्रज्ञान कह सकते हैं क्योंकि चक्र है शक्तिसमूह। और कला का दूसरा नाम है शक्ति। इसीलिए आद्या को 'वाच्यातीता पराकला' कहते हैं। इसी को षट्शाम्भवेश्वरी विद्या वा शाम्भवी कला कहते हैं। इसी को सप्तमी कला कहते हैं। सात कलायें ये हैं—

१ अकार, २ उकार, ३ मकार, ४ नाद, ५ नादातीता, ६ विन्दु और ७ विन्दतीता। इनके पर्य्यायवाचक ये हैं—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, भुवनेश, इनके ऊपर आद्याकाली महाकाल से लालित हैं। इस न्यास के भी अनेक क्रम हैं।

साधारणतया प्रणव की कलाओं का, जो ५१ हैं, न्यास होता है। क्योंकि प्रणवात्मिका कलायें ही पराकला की प्रथम सृष्ट्युन्मुखी कलायें हैं। इसमें भी सृष्टि, स्थिति और संहार तीन क्रम हैं। सृष्टिक्रम में—प्रथम नाद की निवृत्त्यादि षोडश-कलायें, विन्दु की पीतादि पञ्चकलायें, मकारभवतीदणादि दशकलायें उकार भवजरादि दशकलायें और अकार भव-सृष्ट्यादि दशकलायें हैं। अपरप्रणव से सृष्टि है। प्रणव दो प्रकार के हैं—परप्रणव और अपरप्रणव। परप्रणव है निष्क्रिय ब्रह्म और अपरप्रणव है सक्रिय ब्रह्म। परप्रणव वाच्य है और अपर वाचक है। इन्हीं दोनों के नाम परा और अपराविद्या हैं।

अतएव प्रणव की ५१ कलाओं से ही समष्टि और व्यष्टि है। इन्हीं व्यष्टि और समष्टिभावों को एक करने के लिए कला-मातृकान्यास की आवश्यकता है। कलान्यास करके निष्कला-त्मक होना लक्ष्य है। विदेह-मुक्त इसी को कहते हैं।

(ग) पीठन्यास—यह भी आवश्यक है क्योंकि शरीर-स्थित देवता का पीठ अर्थात् वह किस पर है और उसके चारों तरफ क्या और कौन हैं इसका ज्ञान होना आवश्यक है। यह तो सभी मानते हैं कि जो समष्टि में है, वह व्यष्टि में है अर्थात् जो ब्रह्मांड में है, वह पिण्डाण्ड में है। जैसे ब्रह्माण्ड में चन्द्र-सूर्य्य हैं, वैसे ही पिण्डाण्ड वा शरीर में भी हैं। जितने पदार्थ चिदाकाश में हैं, उतने ही घटाकाश में सूक्ष्मरूप से हैं। अतएव जो आधार वा आवरण इत्यादि ब्रह्माण्डनायिका के हैं, वही पिंडनायिका वा शरीरस्थ देवता के हैं परन्तु सूक्ष्मभाव से। यह न्यास एक क्रम से हृदय को देवता का स्थान मानकर होता है। यह क्रम सर्वसाधारण है। दूसरा क्रम है ब्रह्मरन्ध्र को विन्दु अर्थात् पराशक्ति समझकर। वास्तव में है भी यही

ठीक। ब्रह्मरन्ध्र, जो शिर के मध्य ऊर्ध्वभाग में है, उसी को विन्दुस्थान मानना होगा न कि हृदय में। फिर हृदय में विन्दु को स्थापित करने से पञ्चत्रिकोण की स्थापना ठीक से नहीं हो सकती है क्योंकि पहला त्रिकोण शिर में है, दूसरा त्रिकोण भ्रूमध्य अर्थात् ललाट में, तीसरा कण्ठ में, चौथा हृदय में और पाँचवाँ नाभिदेश में है। (स्वाधिष्ठान में अष्टपत्र और मूलाधार में भूपुर है।) अतएव विन्दु अर्थात् देवता का स्थान परापूजा में ब्रह्मरन्ध्र ही है। और आधारपीठ का—अकुलसहस्रार में, जो मूलाधारचक्र का भी आधार है, न्यास करना चाहिये। क्योंकि पृथ्वी मूलाधारचक्र है। पृथ्वी का आधार शेष है, जिसका आधार प्रकृति है। अतएव शेष, कूर्म और प्रकृति के न्यास अकुलसहस्रदलचक्र में ही हैं। इस न्यास से जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का ज्ञान दृढ़ होता है। ज्ञान सर्वतोमुखी होने से दृढ़ होता है। आंशिक ज्ञान दृढ़ नहीं है। अतएव पराऽपरा यज्ञ में प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्म मतलब एक ही है।

(घ) तत्वन्यास—तत्व शाक्तागम के अनुसार ३६ हैं। वैसे तो ९६ तत्व हैं परन्तु मुख्यतत्व ३६ ही हैं। इनमें मुख्य ३ हैं आत्मतत्व, विद्यातत्व और शिवतत्व। इन्हीं के भेद करने से ३६ तत्व होते हैं। यथा आत्मतत्व के अन्तर्गत २४ तत्व हैं—प्रकृति, अहंकार, बुद्धि, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें और पाँच भूत। विद्यातत्व के अन्तर्गत ७ तत्व हैं—पुरुष, नियति, काल, राग, अविद्या, कला और अन्तर्गत ५ तत्व हैं—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धमाया। शिवतत्व के विद्या। इस न्यास से तात्पर्य्य सब तत्वों का, जो इसी शरीर में हैं, ब्रह्मतत्व में लयकर एक हो जाना है।

(ङ) मूलविद्यान्यास—मूलविद्या द्वाविंशाक्षरी है। यही द्वाविंशाक्षरी विद्या आद्या का पूर्ण स्वरूप है। इसी विद्या के प्रत्येक वर्ण का न्यास करने से देवता से ऐक्य की भावना होती है।

(च) चक्रन्यास—देवता का चक्र शरीर में है। इस देवता का एक नाम अद्वैत सदानन्दो देवता है। जैसा कि पहले लिखा है। विन्दु, पञ्चत्रिकोण, अष्टदलपद्म, भूपुर सभी शरीर में हैं। इनकी अधिष्ठातृ देवताओं का न्यास उन-उन स्थानों में स्थूल (बाह्य) और सूक्ष्म (अन्तर) रूपों से किया जाता है। स्थूलन्यास देवताओं का नाम लेकर किया जाता है और सूक्ष्म उन-उन देवताओं के द्योतक तत्वों से होता है। इससे शरीर का ब्रह्माण्डचक्र से और निज आत्मा का परमात्मा से ऐक्य-भाव है, यह धारणा दृढ़ होती है। इस न्यास का फल है निर्विकल्प समाधि। अर्थात् साधक कालीरूप हो जाता है।

(छ) चतुरासनन्यास—यह आत्मासन, चक्रासन, सर्वमन्त्रासन और साध्यसिद्धासन इन चार प्रकार के आसनों का न्यास है। आत्मासन से मतलब है प्रमाता का, चक्रासन से प्रमेय का, सर्वमन्त्रासन से प्रमाण का और साध्यसिद्धासन से सामरस्य का मतलब है। यह सामरस्य है।प्रकाशशक्ति और विमर्शशक्ति का।

आसन का सूक्ष्म अर्थ है सर्वव्यापिनी चेतना। आत्मासन का यथार्थ भाव यह है कि जीव अपने को प्रमाता, कर्त्ता, ज्ञाता, भोक्ता इत्यादि समझता है। चक्रासन, जो दूसरा आसन है, विषयोपाधि से भासित होता है, जिससे जीव अपने को प्रमेय, ज्ञेय इत्यादि समझता है। मन्त्रासन का मतलब है जीव का अपने को प्रमाण समझना। यह जीव की प्रमानोपाधि है।

अन्तिम साध्य सिद्धासन शुद्ध चैतन्यावस्था है अर्थात् साध्य सिद्ध हो गया। इसी को सविकल्प समाधि कहते हैं। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भाव दूर होकर परमात्मा से जीवात्मा का अभेद हो जाता है। भेद है विक्षेपशक्ति की क्रिया। इसी को हटाने का चतुरासनन्यास एक उपाय है। आत्मा तो नित्यसिद्ध है। इसमें विक्षेप आने से अहन्ताभाव आता है। इसी से जीव अपने असल रूप को भूलकर मोह में पड़कर तब तक भटकता रहता है, जब तक गुरु उसकी आँखें न खोल दे। यह वैसे ही है जैसे कोई अपने गले में सोने का हार डालकर पीछे उसे भूल जाता है। भूलकर खोजता है और न मिलने पर रोता-कलपता है। अन्त में किसी दूसरे मित्र वा परिजन द्वारा दिखाये जाने पर गले को टटोलकर हार पहचानता है और प्रसन्न हो जाता है। हार तो कहीं गया नहीं था, उसी के पास था। उसकी विस्मरण-शक्ति से खो गया था। इसी प्रकार विक्षेपशक्ति के कारण आत्म-परिचय नहीं होता। साध्यसिद्धासनावस्था में परिचय हो जाता है।

(ज) षोढान्यास—षोढा का अर्थ है षट्धा अर्थात् छ प्रकार का। इस न्यास के करनेवाले षट्कालीरूप हो जाते हैं। षट्काली के नाम ये हैं—१ परा, २ परात्परा, ३ परात्परातीता, ४ चित्परा, ५ चित्परात्परा, ६ चित्परात्परातीता। पहला न्यास है वैष्णवी कलायुक्त मातृकान्यास, दूसरा है कामकलापुटित श्रीकला और श्रीकलापुटित कामकला का लिपिस्थान वा मातृकास्थान में। तीसरा है आदिकलापुटित श्रीकला और श्रीकलापुटित आदिकला। चौथा है कूर्चचन्द्र को विद्याराज्ञी (द्वाविंशाक्षरी) से सम्पुटित करके। पाँचवाँ है अनुलोम और विलोम मूलमन्त्र से। छठा है एक सौ आठ बार अनुलोम-विलोम-क्रम से व्यापकन्यास। इसकी सिद्धि का

लक्षण मूर्ति को नमस्कार करने पर मूर्त्ति का फट जाना है। तात्पर्य कि साधक देवतारूप या तादात्म्य हो जाता है।

षोढान्यास भिन्न-भिन्न तन्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं परन्तु तात्पर्य एक ही है। केवल एक षोढान्यास से भी इष्टसिद्धि होती है। इसके देवता वा विद्याभेद से भी अनेक भेद हैं। कादिविद्या में भी यह कई एक प्रकार के हैं। इसके प्रमुख भेद केवल दो और हैं—गुह्यषोढा और हंसषोढा। इनके अतिरिक्त भी हो सकते हैं, जो उपलब्ध नहीं हैं।

गुह्यषोढा—इसमें पहले चिन्तामणिकाली के एकाक्षर मन्त्र 'क्रीं' त्रिधा से न्यास होता है। दूसरा ताराद्वय 'हूं' पुटित मातृका और मातृकापुटित ताराद्वय से होता है। तीसरा शक्तिकलाद्वयपुटित मातृका और मातृकापुटित शक्तिकलाद्वय से होता है। चौथा 'दक्षिणे कालिके' से पुटित मातृकापुटित 'दक्षिणे कालिके' से होता है। पाँचवाँ सप्तवीज और वह्निजायापुटित मातृका और मातृकापुटित सप्तवीज-वह्निजायायुक्त से होता है। छठाँ पूर्णविद्याराज्ञीपुटित मातृका और मातृकापुटित विद्याराज्ञी से व्यापकन्यास होता है। इसका भी मतलव कालीतनुताप्राप्ति है।

हंसषोढा—इसको देहरक्षान्यास भी कहते हैं। इसका विनियोग है कालीदेहार्थ। हंसः से षडङ्ग करके कण्ठ, हृदय, नाभि, लिङ्ग, गुह्य और सर्वांग (व्यापक) क्रमशः छः स्थानों में न्यास करके अन्त में ५० बार हंसः मन्त्र से व्यापकन्यास करने से यह न्यास होता है। इसका भी मतलब वही है—'हंसः' अथवा 'अहं सः'।

लघुषोढा भी एक न्यास है। यह उनके लिये है, जो किसी अन्य कारण से वा अधिकारीभेदवशात् उपर्युक्त षोढान्यास

नहीं कर सकते हैं। संसार में सबकी रुचि एक सी नहीं है। इसीलिए अनेक प्रकार की साधन-प्रणालियाँ कही गई हैं। साधक अपनी रुचि के अनुसार षोढान्यास करके इष्टसिद्धि करता है। कहने का मतलब है कि नाम और रूप भिन्न-भिन्न रहते हुए भी सबका मतलब एक ही है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक न्यास हैं, यथा वीजन्यास, विद्यान्यास, वर्णन्यास इत्यादि। इनका तात्पर्य्य भी वही है।

पञ्चम खण्ड

(क) सम्विदाग्रहण—सम्विदा है पराशक्ति। इस हेतु इसकी पूजा सम्वित् ही में करनी है। अन्तर्यजन दो प्रकार का है—साधारा और निराधारा। निराधारा उत्तम है। साधारा है आधार वा आकार में पूजा। और निराधारा है सम्वित् में। सम्विद् वा सम्विदा का अर्थ है आनन्द (ब्रह्म) और दूसरा अर्थ है ज्ञान। यह मध्यमावस्था है चित्ताकाश और चिदाकाश की। इसी के परे परासम्वित् है। परासम्वित् है चिदानन्दावस्था। जीवन्मुक्त का यह एक लक्षण है। यह परम शुभा है और मोक्ष का साधन है। सम्वित् परशिव और पराशक्ति का विशेषण है। इसको विजया भी कहते हैं, क्योंकि यह मन का विजय करती है। मन को जीतने के सिवा दूसरा कोई उपाय संसारसागर को पार करने का नहीं है। विजया से ज्ञान का तात्पर्य्य है। इसको समया भी कहते हैं। समयाविद्या (मन्त्र) प्रत्येक विद्या की पृथक्-पृथक् है। सम्विदा के ऋषि (प्रथम उपासक) स्वयं ब्रह्मा हैं, छन्द है गायत्री और वाग्वादिनी सरस्वती का नाम है। सम्विदा से चित्त एकाग्र होता है और ज्ञान की प्राप्ति होती है। परापूजा से निरानन्द अवस्था होने से सम्विदानन्दअवस्था की मूल आवश्यकता है। इसी से सहजावस्था की उपलब्धि है। सहजावस्था सर्वश्रेष्ठ है। निष्पत्तिभूमिका भी सहजावस्था को कहते हैं। शाम्भवीय अवस्था भी इसी सहजावस्था की पर्य्यायवाचक है। यहाँ पर शङ्का हो सकती है कि देवपूजा के पहले पान वा भोजन निषेध

है। परन्तु यह परापूजा में सर्वथा विहित है। यह ठीक ही कहा गया है कि साधक के खिन्न होने पर देवी भी खिन्न होती है, इससे खा-पीकर जगदम्बा की पूजा करे। उपवास को साधारणतया खान-पान न करना समझा जाता है। यह एक महान् भ्रम है। यह साधन को साध्य मानना है। इसका यथार्थ तो यह है कि भोजन आदि छोड़कर इष्ट में लीन रहना चाहिए, न कि भोजन आदि न करके सांसारिक कर्मों में लगा रहे। ऐसा करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। परापूजा में देह ही देवालय है और अद्वैत सदानन्ददेवता है। इसी भाव से पूजा करनी होती है नहीं तो सिद्धि नहीं होती है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी है कि ज्ञानकाण्ड में अनेक क्या प्रायः सभी प्रयोग कर्मकांड के विपरीत हैं। यथा कर्मकाण्ड में संकल्प, शिखाबन्धन इत्यादि नियमों की आवश्यकता है वहाँ ज्ञानकांड में निःसंकल्प, मुक्तशिखा इत्यादि ठीक उलटे सिद्धान्त हैं। संक्षेप में कर्मकांड तक शास्त्र-नियम का पालन है। तत्पश्चात् उपासनाकांड में ये नियम क्रमशः ढीले होते जाते हैं और ज्ञानकांड में इनकी समाप्त हो जाती है।

(ख) भैरवाज्ञाग्रहण—आदि भैरव हैं महाकाल, जो गुणातीता आद्या के ऋषि वा प्रथम उपासक हैं। इनके दूसरे नाम हैं—अक्षोभ्य, दक्षिणामूर्त्ति इत्यादि। ये आदिनाथ वा आदिगुरु भी कहलाते हैं। अतः ये कालीकुल के उपासकों के परमेष्ठिगुरु हैं। इन्हीं से माया हुई, जिनको भुवनेश्वरी कहते हैं, इन्हीं की कृपा से जीव माया से मुक्त होता है अतएव भैरव ही मोक्ष का प्रधान कारण है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण काशी के विश्वनाथभैरव हैं। उनकी छत्रछाया में प्रत्येक जीव कीट-पतङ्गादि के मरने पर मुक्ति होती है। क्योंकि वे मृत्यु के समय

तारकमन्त्र का उपदेश पा जाते हैं। यही दक्षिणामूर्त्ति वट के नीचे मौन बैठकर शिष्यों को दीक्षित करते हैं—

'वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां विभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम्।
फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः सेव्यं वटाधः कृतनीड़मीड़े॥

इनका एक मन्त्र ऐसा है—

ॐ नमो भगवते तुभ्यं वटपदमूलवासिने।
प्रज्ञामेधासिद्धिदायिने मायिने नमः॥

और दूसरा ध्यान ऐसा भी है—

मुद्रा (मौनमुद्रा) पुस्तकवह्निनागविलसद्‌ बाहुं प्रसन्नाननं।
मुक्ताहारविभूषणं शशिकलाभास्वत्किरीटोज्ज्वलम्॥
अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थं भवानीपतिं।
न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टाप्तये॥

दूसरा मन्त्र भी ऐसा है--

ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्त्तये।
मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा॥

इस मन्त्र का रहस्य यह है।--ॐ एकाक्षर ब्रह्म है, जो व्यापक रूप में आत्मा से भिन्न नहीं है। नमः से बोध होता है कि मैं जीव (पाशबद्ध जीव) नहीं हूँ। भगवान् से तात्पर्य्य है सर्वव्यापक और सत्। भग का एक अर्थ है ऐश्वर्य। सबसे बड़ा ऐश्वर्य वा सत्ता नित्यता है। यही भगवान् का यथार्थ अर्थ है। वैसे तो इसका आदरवाचक भी प्रयोग होता है जैसे भगवान् कपिल इत्यादि। दक्षिणामूर्त्ति दक्षिण और अमूर्त्ति दो शब्दों से बना है। दक्षिण शब्द सगुण ब्रह्म का द्योतक है। इसी सगुणब्रह्म से प्रपञ्चात्मक जगत् की सृष्टि, पालन और

संहार होता है । अमूर्त्ति का अर्थ है निराकार। यह निर्गुणब्रह्म का द्योतक है। अतएव दक्षिणामूर्त्ति से पूर्ण चिदचित् सगुण और निर्गुणब्रह्म का बोध होता है। मेधा का तात्पर्य्य है वह ज्ञान जो संशय, अयथार्थ और विक्षेप इन तीनों दोषों से रहित है। प्रज्ञा का लक्ष्यार्थ है मन की सविकल्प समाधि-स्थिति। प्रयच्छ से तात्पर्य्य है समाधि की मानसिक स्थिति के देने की प्रार्थना। अर्थात् अविद्या-रहित कर देने की प्रार्थना। स्वाहा का तात्पर्य्य है इन भावों को भी ब्रह्म में लीन कर देना। अतएव भैरवाज्ञा प्रार्थना करने का मतलब है अपने को उसमें लीनकर देना वा तादात्म्य भाव।

(ग) अन्तर्याग--अन्तर्याग वा मानसपूजा वह है, जिसमें बाह्य क्रियाओं का बिलकुल अभाव रहता है। वे केवल मन द्वारा होती हैं। यह पूजन दो प्रकार का है साधार और निराधार। साधारपूजा मूर्त्ति अथवा यन्त्र की कल्पना करके और निराधार पूजा ब्रह्मज्ञान से होती है। सुखासनवृत्ति चिर वास आसन-नियम है। सब शरीरों में चैतन्य एकतनता ध्यान है। और ध्यान को भूल जाना ही समाधि है। इस प्रकार की पूजा में सब कर्मों का निराकरण ही है आवाहन, आसन है निश्चय ज्ञान, उन्मनीभाव है पाद्य, सर्वदा अमनस्क ही है अर्घ्य, सदादीप्तिअपारामृतवृत्ति है स्नान, सर्वव्यापकता है गन्ध, दृक्स्वरूपावस्था है अक्षत, चित् की आप्ति है पुष्प, चिदग्निस्वरूप है धूप, चिदादित्य है दीप, परिपूर्णचन्द्रामृतरस का एकीकरण नैवेद्य है, निश्चल भाव है प्रदक्षिणा, सोहंभाव है नमस्कार, मौन है स्तुति और पूर्णसन्तोष है विसर्जन। ऐसी पूजा ब्रह्म के तीसरे पाद अर्थात् आनन्द की है। यद्यपि ऐसी पूजा सर्वोत्कृष्ट है तथापि यह 'बोधैकगम्या' मात्र होने से

पूजा-पद्धति से परे हैं। इसकी भूमिका है साधारपूजा। यही साधारपूजा चित्तवृत्ति का बोधन करती है, जिससे निराधार की योग्यता होती है। अर्थात् यह खण्डाकारवृत्ति को अखण्डाकार में परिणत करती है।

साधार में साकारब्रह्म की पूजा होती है। साकार दो प्रकार का है—सोपाधिक और निरुपाधिक। सोपाधिक थे अवतार, जो अपने अपने विशिष्ट कार्य्यों का सम्पादनकर निरुपाधिक हो गये यथा नृसिंह, दाशरथी राम इत्यादि। यहाँ शङ्का हो सकती है कि निरुपाधिक साकार कैसे हो सकते हैं? इसका समाधान इस प्रकार होता है कि निरुपाधिक तीन प्रकार के साकार होते हैं—ब्रह्मविद्या-साकार, आनन्द-साकार और उभयात्मक-साकार। ये भी दो प्रकार के हैं नित्य-साकार और मुक्तसाकार। नित्यसाकार आदि-अन्त-शून्य शाश्वत है। दूसरा है उपासना से मुक्त। इनके अखण्डज्ञान से आविर्भाव होता है। ये भी शाश्वत ही हैं। एक मत यह भी है कि मुक्त-साकार ऐच्छिक है। इसलिए निरुपाधिक साकार भी नित्य है। यह ब्रह्मचैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अब यह विचार करना है कि यह ब्रह्मचैतन्य कहाँ है और क्या है और इसकी पूजा किस प्रकार होती है? और इस साधार पूजा का आधार क्या है? यह ब्रह्मचैतन्य कुण्डली है, जो जीव के शरीर में है। इसकी पूजा होती है इसके वास्तविक रूप के ज्ञान से। वास्तविक ज्ञान त्रिवली को, जो तम, रज और सत्व-गुणों का बन्धन वा वेष्टन है, चैतन्यकर ऊर्ध्वाकारवृत्ति से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर बैठाये बिना नहीं हो सकता है।

साधक अपनी चित्तवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाकर यम-नियमादि से यथासम्भव उचित मात्रा में तमोगुण और रजो-

गुण को वश में करके सात्विकवृत्ति के सहारें ही ऐसी पूजा का अधिकारी हो सकता है। तभी वह पराचित्शक्ति की भावना भी कर सकता है। इसी भावना से भावित होने पर साधक चित्शक्ति से व्याप्त व्यष्टि अर्थात् स्वशरीर को त्रिमंडल अर्थात् अग्नि, सूर्य्य और चन्द्रमण्डल की ज्योति से प्रकाशित देख सकता है और परशिव को, जो महाप्रकाश है, ज्योत्स्ना-मण्डल में, जो पूर्वकथित त्रिमण्डल से भी परे है, देख सकता है। यही समयमत का रहस्य है, जो उपनिषदों में वर्णित है। ज्योत्स्नामंडल के महाप्रकाश का परमाकाश के नाम से, जो पाँचों आकाशों में सबसे ऊँचा है, उपनिषदों में उल्लेख है। स्वर्ग ही ज्योत्स्नामंडल से आवृत है। इसी में देव हैं, जो ग्यारह इन्द्रिय इत्यादि सब तत्वों को वश में करके परिशुद्ध कर देते हैं। उक्त त्रिमण्डल का रहस्य ऐसा है—स्वाधिष्ठान-चक्र अर्थात् स्व + अधिष्ठान वा आत्मप्रतिष्ठान में अग्नि है। इसमें कर्मों का दहन करना होता है। 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं' हो सूर्य्यमण्डल, जो अनाहत और विशुद्धचक्रों के मध्य में है, जाता है। यहाँ रौद्रप्रकाश है, जिसमें पूर्ण शान्ति नहीं मिलती है। यहाँ अर्थात् इस मंडल में असंशक्ति होता है। इसी को ज्ञान की पञ्चमी भूमिका कहते हैं। इसके बाद चन्द्रमंडल है, जो पदार्थभावना षष्ठी भूमिका है। यह पदार्थभावना न्याय की सप्तपदार्थभावना से एक प्रकार भिन्न है। पदार्थ से तात्पर्य्य है मूलकारण-पदार्थ चिद्घनानन्दब्रह्म। आनन्द ही पदार्थ-सप्तक का मूल कारण है। इसके परे है ज्योत्स्नालोक, जो निष्क्रिय ब्रह्म परशिव का स्थान है। यही तुर्यगा अन्तिम (चरम) भूमिका है।

इस प्रकार का अन्तर्यजन अहंग्रहोपासना का द्योतक है। बिना अन्तर्याग के बहिर्याग अवैदिक है। अन्तर्याग में सबसे

पहले आत्मानुसन्धान की मूल आवश्यकता है। इसके बाद इस व्यष्टि का समष्टि में समन्वय करना होता है, जिससे भेद मिट जाय। जो द्वैतभाव से अर्थात् साध्य और साधक के भाव से उपासना करता है, वह ज्ञान से बहुत दूर रहता है। संक्षेप में यह कहना पर्य्याप्त है कि अन्तर्याग की ही आवश्यकता है। वहिर्याग इसका एक साधन मात्र है। शास्त्रों ने वहिर्याग को मन्दाधिकारी वा मध्यमाधिकारी तक के लिए विहित निर्देश किया है। बाह्यपूजा से सांसारिक कार्यों का साधन होता है। उत्तमाधिकारी को वहिर्याग की किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं है।

वहिर्याग का आधार मूर्त्तिकल्पना है। इस कल्पना को मन्द, मध्यम और उत्तम अधिकारी अपनी सुविधा के लिये भिन्न-भिन्न प्रकारों में करते हैं। शास्त्रों का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि शरीर, मन, प्राण इत्यादि उसी चित्‌शक्ति की विक्षेपशक्ति द्वारा रज्जु-सर्पवत् भासित होते हैं। इसको अहंपाद कहते हैं। इसी अहन्ता को पराहन्ताभाव में बदलना है। यही परापूजा वा निदिध्यासन का लक्ष्य है। इसलिए यह आवश्यक है कि शरीरस्थ श्रीचक्र को, जो चित्‌शक्ति का सूक्ष्मभाव से और मायाशक्ति का स्थूलभाव से द्योतक है, यथार्थ सावयव ज्ञान हो। इसी को कहते हैं मूर्त्तिकल्पना।

मध्यमाधिकारी सृष्टिक्रम और स्थितिक्रम से चक्र में स्थित यथास्थान देवताओं की पूजा करे। पहले वह आधारशक्ति पीठदेवताओं की पुष्पाञ्जलि-द्वारा पूजा करे। फिर विन्दु को परदेवता समझ उसकी सशक्ति अर्थात् महाकालसहित पूजा करे। तदनन्तर भूपुरान्त अधिष्ठातृ वा सूक्ष्मभाव से निर्देशित आवरणशक्तियों की मानसिक पुष्पाञ्जलि-द्वारा पूजा करे। संहारक्रम में आवरणशक्ति से प्रारम्भकर पूजा

करता जाय और अन्त में विन्दु में जाकर सब आवरण-विक्षेप-शक्तियों की परिसमाप्ति करे। अहंपाद का रहस्य यह है कि अहंपाद स्थूलभाव में जीवभाव है, जो ब्रह्म का प्रथम अविद्या-पाद है परन्तु सूक्ष्मभाव में यही सोहंभाव है, जो परम शुभ अहंकृति है। इसका विमर्श विन्दु के पार्श्व में स्थित गुरुपंक्ति-रूपी विमर्शशक्तियों-द्वारा मध्यमाधिकारी करता है, जो हृदय में ही विन्दु वा इष्ट का स्थान-निरूपण करता है। विमर्शशक्ति का स्थान विन्दु के दक्षिण कुछ पीछे हटकर है, जो प्रथम त्रिकोण के बाहर है। यह विमर्शवृत्ति पहले त्रिकोण वा त्रिपुटी से संलग्न है। पुष्पाञ्जलि-द्वारा पूजा करने का रहस्य आत्म-गोचरवृत्ति है। इसी को पूजा से अतद्व्यावृत्ति में लाना है। अर्थात् 'मैं यह नहीं, वह हूँ।'

उपासक पुष्पाञ्जलि देने के बाद देवी के आगे पञ्चोपचार से देवता को देखता है अर्थात् पाँच प्रकार से देवी को देखता है वा पाँच प्रकार से देवी का ज्ञान करता है। ये पाँचों प्रकार गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य हैं।

साध्य की भावना बार-बार जिस प्रक्रिया से हो, उसी का नाम उपचार है। ये चौंसठ हैं। अभाव में पाँच हैं, जो मूलात्मक हैं। ये उपचारशक्तियाँ ही चौंसठ योगिनियाँ हैं। पञ्चतत्वात्मिका ही पञ्चोपचारशक्तियाँ हैं। इनके निवेदन इस प्रकार कहे गए हैं—

१—'सुगन्धवत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः' से गन्धसमर्पण करे।

२—'सुशब्दवत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः' से पुष्प चढ़ाए।

३—'सुस्पर्शवत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया विश्रान्तिः' से धूप प्रदान करे।

४—'सुरूपवत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया विश्रान्तिः' से दीप दिखाए ।

५—'स्वादुरसवत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः' से नैवेद्य प्रदान करे ।

इन्द्रियग्रामसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवता ।
स्वाभेदेन समाराध्या ज्ञातुः सोऽयं महामखः ॥

ये पञ्चोपचारशक्तियाँ पञ्चमहाभूतों की नेत्रियाँ हैं । इन्हीं के द्वारा पाञ्चभौतिक भावना का साध्य में मेलन करके ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है । इन्हीं से सब इन्द्रियों का ज्ञान—सुख-ज्ञान—सच्चिदानन्दांश की अनुगत भावना होती है, न कि नाम और रूप की अनुगतभावना । अर्थात् मायारहित ज्ञान होता है । कारण नाम और रूप से ही माया है । नाम और रूप का भेद हटा कि ब्रह्मवित् हुआ । इसी को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि विश्वविषय की स्फूर्ति पैदा करनेवाली जो मनोवृत्ति वा खण्डाकार-वृत्ति है, उसको महदानन्द समरसीकरण वा अखण्डाकारवृत्ति में बदलने का काम ये पञ्चोपचार-शक्तियाँ करती हैं । निमज्जन वा मेलन तो पहले ही ध्यान-द्वारा हो गया । ये पञ्चोपचार, दशोपचार और चतुःषष्ठि उपचार-शक्तियाँ निमज्जन-स्थिति का दृढ़ीकरण करती हैं । इसी हेतु पूजा का तात्पर्य्य निदिध्यासन है । इससे साम्यावस्था की प्राप्ति होती है । यह निदिध्यासन चौंसठ उपचारों के अभाव में षोडशोपचारों से भी प्रायः पूरा हो जाता है । उपनिषदों में सोलह उपचारों के नामों और उनकी व्याख्याओं में भिन्नता है । स्थानाभाव से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया है ।

अन्तर्यजन में भी बाह्यपूजा की तरह मुद्रा की आवश्यकता है । मुद्रा चित्शक्ति की बोधक एक संज्ञा है । इसकी उपयोगिता

कल्पोक्तफलदायिनी है। इसके न करने से पूर्णता में त्रुटि रहती है। अतएव प्रत्येक मानसिक वा बाह्यक्रिया में इसकी आवश्यकता है।

यह हुआ एक प्रकार से निराकारा का साधाररूप अन्तर्यजन। इसके बाद साकारा का साधाररूप अन्तर्यजन आवश्यक है। ध्यान दो प्रकार का है--सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म है निराकारा का, जो मन और वाणी से परे है। स्थूल वा विग्रहवान् ध्यान सूक्ष्म का आधार है। इस प्रकार की पूजा में वाहन है समस्त विषयों के विक्षेप अर्थात् अचिदुज्ञान के स्थान में चित्-शक्ति-ज्ञान वा धर्म के बदले धर्मिमात्र का ज्ञान। अतएव विन्दु-पीठ में गुणातीता आद्या और उसकी कालशक्ति अर्थात् महाकाल का ध्यान करना जरूरी है। महाकाल विमर्शशक्ति है और आद्या प्रकाशशक्ति वा निर्विशेष ब्रह्म। षोडश उपचार ये हैं—

१ आसन—हृदयकमल का आसन दे।

२ पाद्य—सहस्रार से टपकते हुए अमृत का पाद्य दे।

३ अर्घ्य—मन का अर्घ्य दे।

४ आचमन—सहस्रार के टपकते हुए अमृत का आचमन करावे।

५ स्नान—उसी अमृत से स्नान करावे।

६ वस्त्र—आकाशतत्व का पहनने को वस्त्र दे।

७ गन्ध—पृथ्वीतत्व का गन्ध दे।

८ पुष्प—चित्त का पुष्प दे।

इसके अतिरिक्त अमाय, अनहंकार, अराग, अमद, अमोह, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य्य, अलोभ—ये दश पुष्प प्रदान करे। फिर अहिंसा, दया, क्षमा, ज्ञान—ये पाँच पुष्प और दे।

९ धूप—प्राण का धूप दे।

१० दीप—अग्नितत्व का दीप दिखावे।

११ नैवेद्य—अमृतसागर का नैवेद्य दे।

१२ घण्टा—अनाहतध्वनि का घण्टा बजावे।

१३ चामर—वायुतत्व का चामर डुलावे।

१४ नृत्य—इन्द्रियकर्म और मन की चञ्चलता का नृत्य दिखावे।

१५ बलि—काम और क्रोध के पशुओं की बलि दे।

इसके अतिरिक्त—

सलोमास्थिस्वैरं पललमपि मार्ज्जारमसिते।
परञ्चौष्ट्रं मैषं नरमहिषयोश्छागमपि वा॥
वलिं ते पूजायां मयि वितरतां मर्त्य-वसतां।
सतां सिद्धिः सर्वा प्रतिपदमपूर्वा प्रभवति॥

अर्थात् अन्तर्याग में मार्जार आदि की बलि दे, जिसका आशय यह है कि इन छः पशुओं को षट्रिपु समझना चाहिये। छाग से काम, महिष से क्रोध, मार्जार से लोभ, नर से मद वा अहंकार, मेष से मोह और ऊँट से मात्सर्य्य समझना चाहिये। अतएव पराऽपरापूजा में इन्हीं षड्रिपुओं का बलिदान विहित है।

१६ जप—जप दो प्रकार का है—वाचिक और मानसिक। मानसिक तीन प्रकार का है—परा, पश्यन्ती और मध्यमा। परा जप सबसे उच्चकोटि का है। यह सिद्धावस्था का है।

वर्णमाला का जप शब्दब्रह्म वा अक्षरब्रह्म का द्योतक है। शब्द को तार्किक भले ही अनित्य कहें, पर शब्द आकाश का गुण है। आकाश यदि नित्य है तो उसका गुण भी नित्य है। नित्यधर्म्मी का धर्म भी नित्य है। शक्तिमान् से शक्ति पृथक्

नहीं है। अग्नि की दाहकशक्ति उससे पृथक् नहीं है। अग्नि को अगर नित्य मानें तो उसकी दाहकशक्ति को भी नित्य मानना होगा।

जप के बाद अन्तर्हवन है। होम शब्द का अर्थ त्याग वा बलि है। जिस प्रकार अन्तर्यजन किये बिना वहिर्यजन मना है, उसी प्रकार बिना अन्तर्हवन किये वहिर्हवन निषिद्ध है। आत्म महावह्नि है ज्ञानाग्नि, इसी में मन की पूर्णाहुति अर्थात् सारी कामवासना की पूर्णाहुति दी जाती है। होम शब्द का असली अर्थ यही है।

विश्व विकल्प है प्रपञ्च हविः जिसको सम्वित्‌रूपी अग्नि में भस्मसात् करना ही अन्तर्हवन है। मन का संकल्प-विकल्प ही विश्व वा प्रपञ्च है। विश्व है पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म, संकल्प और विकल्प, कृत्य और अकृत्य। बुद्धि के द्वारा जब इनका नाश होता है, तभी जन्मबन्ध से मुक्ति होती है। इस प्रकार साधक सर्वारम्भ-परित्यागी होकर गुणातीत वा ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार के हवन से बुद्धि की व्यवसायात्मिका वृत्ति नष्ट हो जाती है और वह अव्यवसायात्मिका होती है, जिससे समाधि वा लय वा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इसके पश्चात् तर्पण है। इसका तात्पर्य्य यह है कि देहरूप श्रीचक्र की स्वात्ममात्रावशेषता के साथ वहिरङ्ग सम्बन्धवाले प्रपञ्च का अपनी आत्मा में विलापन करना है अर्थात् समष्टि का व्यष्टि में एकीकरण करना है।

तर्पण के बाद स्तुति की जाती है। सर्वोत्कृष्ट स्तुति है मौनावस्था, जैसा पहले लिख चुके हैं। मौन का तात्पर्य केवल वाचनिक मौन नहीं है। वचन के निरोधवत् मन के पूर्ण निरोध को मौन कहते हैं। यह सविकल्प समाधि की अवस्था है।

इस मौनावस्था में ग्यारहों इन्द्रियाँ निष्क्रिय होकर ब्रह्मभाव में लीन हो जाती हैं।

स्तुति के बाद नमस्कार है। यह सोऽहंभावावस्था है। पूर्ण नमस्कार है साष्टाङ्ग। अर्थात् सावयव नमस्क्रिया ही सोऽहंभाव की अवस्था है।

इस प्रकार की पूजा का विसर्जन पूर्णसन्तोष वा सर्वसन्तोष है। सर्वसन्तोष से तात्पर्य्य है दृढ़ अद्वैतभाव। इसके पश्चात् साधक का कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता। आत्मतृप्ति का अर्थ है आत्मरति। स्वर्ग आदि की कामना रह जाने की अवस्था को आत्मरति कहते हैं। इस अवस्था में कार्य्य वा कर्त्तव्यता नहीं रह जाती है क्योंकि निरहङ्कार हो जाने से विधि-निषेध से साधक परे हो जाता है। इसी को स्वरूपानन्ददायिनी जीवन्मुक्ति कहते हैं।

(घ) लयांगयाग--इसका तात्पर्य्य है अङ्गों का अङ्गी में लय करना। यह तभी होता है जब अङ्गी को कारण और अङ्गों को कार्य्य माना जाता है। इस उपाधिभेद को हटाना लयांगपूजा का तात्पर्य है। कारण की उपाधि ईश्वर और कार्य्य की उपाधि जीव है। ये अङ्ग चार हैं—शब्द, अर्थ, काल और देश। शब्द विद्या से सम्बद्ध है। अर्थ नाम और रूप का द्योतक है। इन्हीं दोनों से अर्थात् अर्थ से प्रपञ्च वा माया है। काल और देश सृष्टि के द्योतक हैं। ये अङ्ग उसी चित्शक्ति से हुए हैं। अहं (मैं), मम (मेरा), सुख और दुःख ईश्वर की सृष्टि नहीं है। यह जीव की उसकी त्रिगुणात्मक अविद्या-द्वारा सृष्टि है। यथार्थ में यह रज्जु-सर्पवत् ही है। जगत् संकल्प है और संकल्प ही जगत् है। अर्थात् जगत् मनोमय है। यही श्रीचक्र का संकेत है। संक्षेप में इसका तात्पर्य है चिदचित्शक्ति की

अपरिच्छिन्न उपासना। इससे स्वात्मानन्द-सुख अर्थात् परम-पद की प्राप्ति होती है।

इस उपासना में तीन प्रकार की पूजा निर्दिष्ट है। यह विन्दु में की जाती है। जैसे विन्दु तीन प्रकार का है—स्थूल, सूक्ष्म और परविन्दु। पहली पूजा स्थूलविन्दु में पुष्पाञ्जलि से होती है अर्थात् भावना होती है प्रकाश और विमर्श दो शक्तियों की। दूसरी सूक्ष्मविन्दु में कामकलाशक्ति की पूजा वा भावना होती है। तृतीय है चित्शक्ति की, जो जगत् का कारण है। इसी तीसरी पूजा से कार्य-कारण का यथार्थ समन्वय होता है।

कामकला के सम्बन्ध में शास्त्रों का आदेश है कि गुरु से ही कामकला का रहस्य जानना चाहिए। फिर भी संक्षेप में यहाँ कुछ उल्लेख किया जाता है। कामकला अहं की द्योतक है। अहं निर्द्वन्द्व अद्वैतभाव का द्योतक है। प्रथम अक्षर 'अ' काम वा प्रकाशशक्ति का द्योतक है और अन्तिम अक्षर 'ह' कला वा विमर्शशक्ति का द्योतक है। अतएव दोनों अक्षरों का संयोग 'अहं' कामकला का द्योतक है। 'अहं' शब्द से जगत् और आत्मा भी वाच्य हैं। मध्यमाधिकारियों के लिए काम-कला की पूर्वोक्त परिभाषा है। और मन्दाधिकारियों के लिए केवल 'ई' निर्दिष्ट है। श्रुतियों ने 'ई' को प्रणवतुल्य माना है। जिस प्रकार प्रणव चार भागों में विभक्त है, उसी प्रकार 'ई' भी रक्त, शुक्ल, मिश्रविन्दु और सम्वित् से बनी है। कामकला का चिन्तन दो प्रकार का है स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल से स्थूल-विग्रह बनता है। अग्रविन्दु वा परविन्दु से मुख, मध्यविन्दु वा सूक्ष्मविन्दु से कुच वा मध्यभाग और नादविन्दु वा स्थूल-

विन्दु से योनि वा निम्नभाग बनता है। और सम्पूर्ण परमात्मा-रूपिणी इष्ट से आत्मा का सामरस्य करते हैं तभी सच्चा आनन्द होता है। सूक्ष्मचिन्तन है 'अ' वा अहन्ता का 'हं' वा पराहन्ता में मेलन अर्थात् 'मैं ही सब हूँ और मुझी में सब है। मुझसे ही सब हुआ है और सब है और सब आवेगा। मैं ही ब्रह्म हूँ।' यही लययोग और कामकला का चिन्तन है। अतएव बिना कामकला का चिन्तन किये पूजा करना मना है।

षष्ठ खण्ड

पात्रासादन—पात्रासादन का अर्थ है पात्रस्थापन। ये पात्र अपने अपने सम्प्रदायक्रम के अनुसार विभिन्न संख्या, प्रकार, रूप इत्यादि में स्थापित होते हैं। देवता, मन्त्र, आम्नाय और अधिकारभेद के अनुसार शास्त्रों में यह निर्दिष्ट है कि कितने और किस पदार्थ के तथा किस आकार के पात्र होने चाहिए। नित्यपूजन में नौ पात्र ही साधारणतया स्थापित होते हैं। पहले वर्द्धनीकलश वा तीर्थपात्र का स्थापन होता है। उसके बाद श्रीपात्र और विशेषार्घ्य दोनों का वा एक विशेषार्घ्य का ही स्थापन होता है, जिसे श्रीपात्र भी किसी किसी क्रम में कहते हैं। अब इन दोनों घटों और श्रीपात्र के मध्य में गुरु, भोग इत्यादि पात्र स्थापित होते हैं।

(क) वर्द्धनीकलश—कर्मकाण्ड वा पूर्वमीमांसा का आदेश है कि पूजा के समय साधक जब कभी मन की एकाग्रता से विहीन हो तब जल हाथ में लेकर मन्त्र पढ़े। इससे सिद्ध होता है कि इसमें आध्यात्मिक रहस्य अवश्य है।

यह एक सिद्ध बात है कि जल ब्रह्म है। जल वा तीर्थ की एक सांकेतिक संज्ञा कारण भी है। यह 'कारण' किसका कारण है? यह कारण इस हेतु कहा जाता है कि यह मुक्ति वा आनन्द का कारण है अर्थात् ज्ञान है। अतएव आध्यात्मिक ज्ञान के लिए, जो पराऽपरापूजा का लक्ष्य है, जल (सम्विद्ज्ञान) की आवश्यकता है। वर्द्धनीकलश समष्टि का द्योतक है। इसकी अपनी स्वतन्त्र व्यावहारिक सत्ता है। घट का रूप त्रिमूर्त्ति-

द्योतक है। इसमें सप्त समुद्र, सप्तमात्रा और सप्तद्वीप निहित हैं। इसमें चारों वेद-वेदांग, स्मृति, पुराणादि-शास्त्रों का रहस्य छिपा है। इसमें अग्नि, सूर्य्य और चन्द्रमण्डल विराजमान रहते हैं, अर्थात् उनका ज्ञान होता है। इनकी दश, द्वादश और षोडशकलाओं की स्थिति इस घट में रहती है। प्रणव की पचास कलायें, जिनसे सारे जगत् की सृष्टि इत्यादि है, इसमें हैं। वेद-वेदांग रूपी अपरविद्या की भी कलश के तीर्थ में उपस्थिति रहने से यह कलश अपरज्ञान का भी द्योतक है। यह अपरज्ञान जगत् वा कार्य्य का ज्ञान है और सूक्ष्मभाव से कारण वा ईश्वर के भी ज्ञान का द्योतक है। अतएव यह घट वा पात्र कर्म, उपासना तथा ज्ञान का सम्पर्ककारक है।

कलश का जल वा अपरज्ञान है जीव, जगत् और ईश्वर का ज्ञान। जीव का ज्ञान यह है कि जीव कार्य्योपाधि है। जीव कर्मकाण्ड के अनुसार स्वधर्म का अनुष्ठान ईश्वरेच्छा के आधार पर करने से अर्थात् अफलाकांक्षी होकर करने से विशुद्ध चित्तवृत्ति का हो जाता है। और यह जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फलभागी होता ही रहता है, जब तक कि इसका अहंभाव नहीं मिटता है। जगत् का ज्ञान जीव को अपनी ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा होता है, जब तक यह अपने को कर्त्ता, भोक्ता इत्यादि समझता है। यह भोगभूमि है—जीव और शिव दोनों की। ईश्वर का ज्ञान यह है कि व्यापक नित्यसत्ता, जो प्रपञ्चात्मक जगत् की रचनेवाली है, जीव को अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल देती है। और साथ ही इसका भी ज्ञान रहता है कि उपासक साकार और सगुण की उपासना करके चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर सकता है, जिससे ईश्वर का यथार्थ चिदचित् रूप मालूम हो सकता है।

अपरज्ञान से चित्त विशुद्ध हो एकाग्र होता है। अब यह प्रश्न है कि अपरज्ञान का परज्ञान से क्या सम्बन्ध है ? अपर-ज्ञान के पूर्वोक्त विश्लेषण से सिद्ध होता है कि यह विद्या और अविद्या दोनों का मिश्रण है। इस इदन्ताभाव से जगत् की चैतन्यता का बोध होता है, जो सर्वाधार है। जगत् के पाँच अंश नित्य हैं, जो सत्, चित् और आनन्द से सम्बद्ध हैं और शेष दो नाम और रूप अनित्य हैं। अतएव यह सिद्ध होता है कि अपरज्ञान में सत्य और असत्य दोनों भावों का समावेश है। परज्ञान वह है, जिसके होने से सब कुछ सत्, चित् और आनन्द ही बोध होता है। यह ज्ञान नित्य है। इसमें नाम और रूप का आवरण हट जाता है। नाम और रूप कल्पना मात्र हैं। अतएव आचार्य्यों ने वर्द्धनीकलशामृत को अपरज्ञान का द्योतक निर्दिष्ट किया है, जिसको विशेषार्घ्य में स्थापितकर विशेष ज्ञान में परिणत करते हैं। सबसे पहले सामान्यार्घ्य-स्थापनकर सामान्यज्ञान प्राप्त करते हैं। उसके बाद वर्द्धनी-कलश स्थापितकर अपरज्ञान प्राप्त करते हैं। तब विशेषार्घ्य से विशेषज्ञान अर्थात् विमर्शशक्ति और प्रकाशशक्ति में अभिन्नता मानते हैं। और अन्त में पूजा के बाद विशेषार्घ्य के उद्वासन से विमर्शशक्ति से संल्लीन प्रकाशशक्ति अर्थात् परम आत्मा को स्वात्मा से मिलाकर एक हो जाते हैं। इस अवस्था को अखण्डाकारवृत्ति कहते हैं, जिसमें शिवाकारवृत्ति का भी लय हो जाता है।

(ख) विशेषार्घ्य—यह तो कहा ही जा चुका है कि पर-देवता का यथार्थ पूजारूपी ज्ञानयज्ञ मनन, निदिध्यासन और समाधि का द्योतक है। शास्त्रों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि समाधि यथार्थ में पूर्ण ज्ञानावस्था ही है, जिसमें माया और अविद्या का सर्वथा अभाव रहता है। और मनन तथा निदि-

ध्यासन दोनों इसके साधन हैं। अतएव अध्यास के रूप में अनर्थों का हट जाना और मूलसत्ता के ज्ञान-द्वारा आनन्दावस्था की प्राप्ति के द्योतक ही सामान्यार्घ्य और विशेषार्घ्य हैं। अर्घ्य ज्ञानद्योतक है। अर्घ्य का अर्थ है पूजा के योग्य पदार्थ। ज्ञान के अतिरिक्त पूजायोग्य पदार्थ और क्या हो सकता है? अतएव सामान्यार्घ्य, वर्द्धनीकलश और विशेषार्घ्य क्रमशः सामान्यज्ञान, अपर ज्ञान और विशेषज्ञान के द्योतक हैं।

मण्डलनिर्माण—यह 'विन्दुत्रिकोणषट्कोणवृत्तिचतुरस्राकार' मण्डल चित्तवृत्ति का द्योतक है। यह पञ्चसंकेतात्मकरूप पञ्च भूत के सात्विक अंश का द्योतक है। यथा—

१—विन्दु है आकाश का सत्वांश, जो हृदय है।

२—त्रिकोण है अग्नि वा तेज का सत्वांश, जो बुद्धि है।

३—षट्कोण है वायु का सत्वांश, जो मन है।

४—वृत्ति है जल का सत्वांश, जो चित्त है।

५—चतुरस्र है पृथ्वी का सत्वांश, जो अहङ्कार है।

यह अर्घ्य जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का ब्रह्मद्योतक है, उसी प्रकार पिण्डाण्ड का जीवद्योतक भी है। यह सूक्ष्मरहस्य है। प्रत्येक प्रकार के अर्घ्यों के तीन अंश होते हैं। प्रथम अमृत, दूसरा पात्र और तीसरा आधार। जीव का शरीर भी इन्हीं तीनों मण्डलों का बना है। पञ्चदशी विद्या, कामकला इत्यादि इन्हीं तीनों की बनी है। इसके परे है आदिशक्ति आद्या अर्थात् ब्रह्म का चतुर्थ तुरीयपाद। कामकला ब्रह्म का तृतीय आनन्दपाद है। इस प्रकार सभी त्रिपुटियाँ इसी वर्ग में आती हैं। किन्तु यह समझना आवश्यक है कि इस अध्यास की मूलसत्ता चित्शक्ति ही है, जो सत् और आनन्द है। इसी पारमार्थिक ज्ञान का द्योतक अर्घ्य है।

जिस प्रकार जीव की सृष्टि सच्चिदानन्दा इच्छाशक्ति से हुई है, उसी प्रकार जीव के पुरुषार्थ-त्रय धर्म, अर्थ और काम चित्शक्ति से ही हुए हैं। सत् से धर्म, चित् से अर्थ और आनन्द से काम हुए हैं। इन्हीं त्रिवर्ग वा त्रिपुटी के बन्धन-रहित होने से कैवल्य मोक्ष होता है। अतएव अग्निमण्डल, जो धर्म है, आधार है; सूर्य्यमण्डल, जो अर्थ है, पात्र है और चन्द्रमण्डल, जो काम है, अमृत है। धर्म ही मोक्ष का आधार है। अतएव वही साधक ज्ञानयोग का अधिकारी है, जो धर्म्म पर व्यवस्थित है।

अब यदि शरीर को अर्घ्यपात्र मानते हैं, जैसा कि शास्त्रों का सिद्धान्त है, तो मूलाधार ही, जो अग्निमण्डल है, अर्घ्यपात्र का आधार हुआ। इसको धर्म मानना पड़ेगा, जो वस्तुतः है भी। यह धर्म अदृष्ट है। यह जीव का सञ्चित कर्म है, जिसको जीव ने अपने अतीत असंख्य जन्मकालों में इकट्ठा कर रखा है। यही ईंधन है, जिससे अग्निमण्डल जलता रहता है। यह कुण्डलिनीशक्ति है। इसी शक्ति से जीव अपनी वहिर्मुखीवृत्ति से बाह्य विषयों का अनुभव करता है और आनन्दित होता है। और अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति से सच्चे आनन्द का अनुभव करता है। अतएव शरीर पात्र और विषयानुभव अमृत-पात्रस्थ अमृत है। चन्द्रमण्डल ही अमृत है तथा सूर्य्यमण्डल ही पात्र है। सूर्य्यमण्डल का ही लक्ष्य रख शास्त्रों ने पात्र-विनिर्णय की विवेचना की है। यद्यपि यह पात्र-विनिर्णय केरल आदि क्रमों के अनुसार किया गया है तथापि यह साधक की मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। निष्कामोपासक के लिए महाकपाल ही, जो विगत रजतत्व-ज्ञानाधार का द्योतक है, सर्वोत्तम माना गया है। मगर अभाव से स्फटिक का भी हो सकता है। स्फटिक का अभाव हो तो नारिकेल का भी पात्र होता है।

सकामोपासक के लिए अपनी कामना के अनुसार स्वर्णादिक धातुओं के पात्र हैं। महाकपाल भी तीन प्रकार का है—शङ्ख, शुक्ति और कपर्द्दि का। यह शङ्ख दो प्रकार का है एक महाशङ्ख और दूसरा शङ्ख। इसमें महाशङ्ख वा नरकपाल ही मुख्य है और शङ्ख गौण वा अनुकल्प है। ज्ञानयोग में मुमुक्षु के निमित्त महाशङ्ख ही विहित है। यह अमृत जीव के निमित्त फलयोग है, जो सुख और दुःख का मिश्रण है। यह चित्तवृत्ति पर निर्भर करता है। अशुद्ध चित्तवृत्ति को मिश्रित फलयोग और परिशुद्ध को केवल आनन्द का भोग मिलता है। अतएव चित्तवृत्ति को भी अमृत कह सकते हैं। अधिदैवतात्मक दृष्टि से मन चन्द्रमण्डल है। इसी प्रकार चतुरस्रस्वरूप पृथ्वी के सत्वांश का अधिदेवता ब्रह्मा है। त्रिकोणमण्डलस्वरूप अग्नि के सत्वांश का अधिदेवता रुद्र है। चन्द्र मानस का, जो अन्तःकरण का एक अंश है, अधिदेवता है। यह भूतचन्द्र है, जो षोडशदल विशुद्धिचक्र में रहता है और द्विदल आज्ञाचक्र तक प्रभाव डालता है। यहीं पर सुख तथा दुःख का अनुभव होता है।

जीव के जीवभाव का, जिससे सुख और दुःख दोनों का अनुभव होता है, दूरीकरण ही ज्ञानयाग वा परदेवतापूजा का लक्ष्य है। अतएव भूतचन्द्र के अमृत को चित्चन्द्र के परमामृत में ज्ञान-द्वारा परिणत करके पान करना युक्त है अन्यथा मद्यपायी है, जो पञ्चमहापातकों में से एक है। यही विशेषार्घ्य वा विशेषज्ञान की कर्त्तव्यता है।

अगर जीव सुख और दुःखरूपी द्वन्द्व से मुक्त होना चाहता है तो त्रिपुटीजन्य भेदभाव का त्याग करना पड़ता है। भेदभाव के हटने से नाम और रूप का भी लय होता है। इसके निमित्त अखण्डाकारवृत्ति की आवश्यकता है। यह सच्चिदानन्द का अनुभव ही वास्तविक अमृत है। अतएव अद्वैत-

भावना ही अमृत है। यह हुआ अमृत के सम्बन्ध में। जैसा कि पूर्व कहा गया है सूर्य्यमण्डलरूपी विशेषार्घ्यपात्र है। यह सूर्य्यमण्डल मणिपुर वा नाभिदेश से लेकर अनाहत वा हृदय-देशपर्य्यन्त है। शरीर का मानसभाग ही पात्र है। जीव की चेतना अन्तःकरण से सीमित है। कूटस्था चेतना अन्तःकरण में तभी आती है जब यह हृदय-ग्रन्थि खुलती है। ग्रन्थि मुख्यतः तीन हैं—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि। यही हृद्ग्रन्थि है रुद्रग्रन्थि, जो हृदय में रहने से हृद्ग्रन्थि कहलाती है। इसी रुद्रग्रन्थि वा हृद्ग्रन्थि के खुलने से जीव की स्थिति परमा हो जाती है। हठयोगी इन ग्रन्थियों को मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध और जालन्धरबन्ध से क्रमशः खोलते हैं और ज्ञानयोगी भावना से। अतएव विशेषार्घ्य के पूर्वोक्त मण्डल की चतुरस्र रेखा को उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि और कामरूप चारो पीठ मानकर ही पूजन करते हैं। कामरूपपीठ मूलाधार में है, पूर्णगिरि है अनाहत वा हृदय में, विशुद्ध वा कण्ठकूप में जालन्धरपीठ है। और आज्ञा वा भ्रूमध्य में उड्डीयानपीठ है। अस्तु, हृद्ग्रन्थि के खुलने से ही जीव परमामृत का पानकर अर्थात् परज्ञान-प्राप्ति से दुःख से मुक्त हो जाता है। अर्थात् आनन्दमय हो जाता है।

इस कुलामृत का सशोधन आवश्यक है। संशोधित हो जाने पर ही अमृत होकर पूजन-योग्य होता है और देवता के निवेदन-योग्य होता है। असंशोधित रहने पर देवता को निवेदन नहीं किया जा सकता है और न पूजाकर्म के योग्य ही हो सकता है। इस सुधा का पान ब्राह्मणों अर्थात् ब्रह्मो-पासकों को सर्वदा विहित है।

संशोधन का रहस्य जानना आवश्यक है। क्योंकि जब सब पदार्थ ब्रह्ममय होने से स्वयं परिशुद्ध हैं तो फिर संशोधन

की जरूरत ही क्या ? विषय तो यथार्थ में यही है। परन्तु जीव मोहवश अपने अन्तःकरण के दोष से किसी को अच्छा और किसी को बुरा समझता है। माया के उपाधिरहित-ज्ञान से शुद्ध और माया के उपाधिसहित-ज्ञान से अशुद्ध माना जाता है। मन्त्र-द्वारा कल्पित दूषित पदार्थ के संशोधन का मतलब है उस दोष को दूर करना और उस पदार्थ के चिदंश का ज्ञान। मन्त्र पढ़ने से उस पदार्थ में उस विषय का ज्ञान होता है। चित्कला-प्रार्थनामन्त्र पढ़ने से यह ज्ञान होता है कि चित्-कला, जो सच्चिदानन्द-विमर्शा है, जो महावाक्यों का लक्ष्यार्थ है, जो पराहन्ता है, जो चिदाकाश-स्थित चिच्चन्द्र की सुधा है, जो तीनों मण्डलों को प्लावित करनेवाली है, जो परमाकाश का प्रकाश है, हममें विद्यमान् है। मोहवश हम उसे नहीं देखते हैं। इस मोह को हटाना ही मन्त्रपाठ का काम है। वस्तुतः जो वस्तु जिस पदार्थ में वर्त्तमान ही है, उस वस्तु को उसमें लाना निरर्थक है। इसी प्रकार सूर्य्यमण्डल से इसमें तीर्थों के आवाहन का भी यही मतलब है। इसमें शेष चारों तत्व रखने का संक्षेप में यही मतलब है, जो ठीक ठीक गुरु से ही समझा जा सकता है।

(१) मांस वा शुद्धि पृथ्वीतत्व का द्योतक है। अतएव यह पृथ्वी-तत्व की जड़ता हरनेवाला है। दूसरे मत से यह वायुतत्व का द्योतक है। मांस कल्याण और सम्विदानन्द का देनेवाला है। जो योगी अपनी इन्द्रियों को आत्मवश कर लेता है, वही मांसभक्षी है अन्यथा केवल प्राणिहिंसक मात्र है। तात्पर्य्य कि क्रिया का कल्पोक्त फल ही जब नहीं हुआ तो क्रिया एक विडम्बना मात्र है। पुण्य और पापरूपी पशु को ज्ञानरूपी खड्ग से मारकर पराशक्ति में अपने को लीन करे, वही पलाशी है।

मांसाशी से यह भी तात्पर्य्य है कि 'मा' कहते हैं रसना व जिह्वा को। इसका अंश वाक्य है। इस वाक् का भक्षण वा संयम करनेवाला ही मांसाशी है। इसका तात्पर्य्य मन्त्रयोग में वाक्संयम वा मन्त्रसंयम है और हठयोग में खेचरीमुद्रा है, जब जिह्वा को तालुमूल में प्रवेश करते हैं। इसी का नाम गो-भक्षण है। गो का अर्थ जिह्वा भी है।

मांस की एक परिभाषा यह भी है कि ब्रह्म में सर्वकर्म-समर्पण ही मांस है।

(२) मीन—यह जलतत्व का द्योतक है। ज्ञानयोग में इसका तात्पर्य्य यह है कि मीन अहंकार आदि रजोगुणात्मक षट्रिपुओं का द्योतक है और भक्षण का अर्थ नियन्त्रण है। हठयोग में यह प्राणायाम का द्योतक है अर्थात् वायु-निरोध, जो रजः और तमोगुणनाशक है। रजोगुण और तमोगुण के लय होने पर ही सत्वगुण का उदय होता है। कहा है कि ईड़ा और पिंगलारूपी गङ्गा-यमुना में रजोगुण और तमोगुण का प्रवाह बहता रहता है। इसको हठयोगी प्राणायाम आदि-द्वारा बन्दकर सुषुम्ना वा मध्यअन्तर्हिता सरस्वती नाड़ी-द्वारा सत्वगुण को प्रवाहित करते हैं।

(३) मुद्रा—यह वायुतत्व का द्योतक है। दूसरे मत से पृथ्वीतत्व का द्योतक है। वैदिक नाम है पुरोडाश। इसका रहस्य यह है कि आशा, तृष्णा, जुगुप्सा अर्थात् निन्दा, भय, विषय, घृणा, मान, लज्जा और प्रकोप वा क्रोध ये ही आठ प्रकार की मुद्राएँ हैं। इन्हीं को ब्रह्मरूपी अग्नि में भस्मसात् किया जाता है। तभी आनन्द होता है, जो मुद्रा का शब्दार्थ है।

(४) मैथुन या पञ्चम मकार—यह आकाशतत्व का द्योतक है। इसका सूक्ष्मार्थ है पराशक्ति से आत्मा के सामरस्य के आनन्द का अनुभव। वही वास्तविक मैथुन है अन्यथा स्त्री-निषेवण मात्र है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि पराशक्ति का अर्थ दूसरे की शक्ति वा स्त्री नहीं है। पराशक्ति का अर्थ है सबसे श्रेष्ठा शक्ति वा सत्ता। यह पञ्चतत्वों में सबसे श्रेष्ठ तत्व है। इसके समझनेवाले विरले ही हैं और मैथुन-प्रक्रिया करनेवाले तो और भी कम हैं। संक्षेप में इतना कहना पर्य्याप्त है कि मिथुन अर्थात् दो का एक होना ही मैथुन है। इसको योग भी कहते हैं क्योंकि योग का तात्पर्य्य ही एक के साथ दूसरी वस्तु का मिलन है। योग साध्य और साधन दोनों है। साध्य उस अवस्था में है, जब आत्मा और परमात्मा वा साध्य और साधक का योग लक्ष्य है और साधन तब है जब हम आत्मा और परमात्मा अर्थात् साध्य और साधक के योग से आनन्द को लक्ष्य मानते हैं।

इसका साधन चार प्रकार का है—मन्त्रयोग, हठयोग, लय और राजयोग-द्वारा। बिना मिथुन वा दो के यह नहीं होता है। बिना दो के आनन्द होता ही नहीं। अतएव जगत् के सारे पदार्थ युग्म हैं। शिवा से पृथक् शिव रह ही नहीं सकता है। और शिव से पृथक् शिवा नहीं। इसी आनन्दानुभव के लिए ब्रह्म एक से अनेक हुआ।

अतएव पञ्चमकारों के तात्पर्य्य संक्षेप में ऐसे हैं—

मद्य—ब्रह्मात्मैक्य अखण्डाकारवृत्ति, जिसका सहस्रदल-कमल में अनुभव होता है।

मत्स्य—इन्द्रियों का निग्रहकर अन्तर्मुखीवृत्ति कर लेना।

मांस—ज्ञानखड्ग से पशुभाव की हत्या वा दूरीकरण अर्थात् कर्मबन्धन का छेदनकर ब्रह्म में लय।

मुद्रा—ब्रह्मविद्यारूपी ब्रह्माग्नि में स्वात्मा की समस्त आसुरी सम्पत्ति को भस्मसात् कर सदानन्द (सत् + आनन्द) की प्राप्ति।

मैथुन—शिवशक्ति-सामरस्य अर्थात् ब्रह्म और जीव का एकीकरण। यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि जीव को शक्ति वा स्त्री किस प्रकार से कहा जा सकता है। स्थूलरूपों में यह त्रिलिंगात्मक है किन्तु सूक्ष्मरूप से शक्ति ही है। यही वीराचार वा पराऽपरा का रहस्य है। इसका तात्पर्य्य है कामवासना का त्याग।

मन्त्र के षट्पल्लवों वा अङ्गों—'वषट् इति उद्धृत्य, स्वाहा इति तत्रैव निक्षिप्य, हूं अवगुंठ्य, वौषट् इति धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य, फट् इति संरक्ष्य, नमः इति पुष्पं दत्वा।' द्वारा विशेषार्घ्यरूपी विशेष यथार्थ ज्ञान की रक्षा से तात्पर्य्य है। इसका फल यह है कि उपासक अपने मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा तादात्म्य का बोध करता है।

अष्टगन्धलोलित पुष्प-निक्षेपण का यह तात्पर्य्य है। अष्टगन्ध अष्टसाधन का द्योतक है, जो ये हैं—विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। मुमुक्षुत्व इन्हीं आठों साधनों पर निर्भर करता है। मुमुक्षुत्व का द्योतक पुष्प है। मुमुक्षु को भवसागर पार करने के लिए जीव और ब्रह्म के ऐक्यरूपी आनन्दसागर में कूदना पड़ता है। अतएव मुमुक्षु का अष्टसाधनसहित अखण्डाकारवृत्ति का हो जाना ही अष्टगन्धलोलित पुष्प के विशेषार्घ्य में निक्षेपण का रहस्य है। इसका मन्त्र है मृत्युञ्जयमन्त्र 'ॐ जूं सः'। इसका तात्पर्य्य है कि मृत्यु को जीतकर ही अमृतत्व का लाभ होता है।

पद्धति कहती है—

ह, ल, क्ष-मण्डित अ-क-थादि रेखात्रयं त्रिकोणं विलिख्य।

इसका तात्पर्य्य यह है कि त्रिकोण में ५१ अक्षरों को भावना हो। ये अक्षर समस्त विद्याओं के द्योतक हैं।

सुधादेवी के स्वरूप का अनुसन्धान वा आनन्दभैरवी का ध्यान करने का तात्पर्य्य है कि सुधादेवी वा अमृतब्रह्म का लक्षण चिन्मयत्व, आनन्दत्व, व्यापकत्व आदि है। यही लक्षणोपेत विशेषार्घ्यामृत है। सुधादेवी के प्रार्थनामन्त्र का, जो निम्नलिखित है, यही तात्पर्य्य है कि मेरा चित्स्फुरण अर्थात् विशेष यथार्थ ज्ञान हो—चित्स्फुरण का तात्पर्य है नित्यानन्द चित्-शक्ति का स्फुरण वा उदय, जिससे ब्रह्मैक्य का अनुभव हो—

अखण्डैका रसानन्दकरे परसुधात्मनि।
स्वच्छन्दस्फुरणार्थाय निधेहि कुलनायिके॥
अकुलस्थामृताकारे शुद्ध-ज्ञानकरे परे।
अमृतत्वं निधेह्यस्मिन् वस्तुनि क्लिन्नरूपिणि॥
तद्रूपिण्यै करस्थं त्वं कृत्वा ह्येतत् स्वरूपिणि।
भूत्वा परामृताकारा मयि चित्स्फुरणं कुरु॥

मन्त्र—'ऐं ब्लूं ह्सौं जूं सः अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं श्रावय श्रावय स्वाहा' का यह भावार्थ है—'ऐं वाग्वीज है, जो समस्त विद्याओं का द्योतक है, 'ब्लूं' वश्यमान वीज है, जो समस्त जगत् को अर्थात् प्रपञ्चभाव को अपने में लयकर लेने की क्षमता रखता है; 'ह्सौं जूं सः' परमामृत है, जो चिच्चन्द्रमण्डल से गिरता है, हे देवि! तू अमृतब्रह्म वा आनन्द, परमतृप्ति वा सुखरूपिणी, आनन्द-दायिनी, अमृत अर्थात् आनन्द की धारा मुझमें बहा दे, जिससे मैं ब्रह्मवित् होऊँ।'

दीपिनीमन्त्र का भी यही तात्पर्य है, परन्तु इस प्रकार से—अन्तःकरण में प्रत्यगात्मा का भाव उदय होता है, तब इस वृत्ति को दीपिनीवृत्ति कहते हैं। और जो मन्त्र इस वृत्ति का उदय करता है, वह दीपिनी मन्त्र है। 'ऐं वद वद वाग्वादिनि ऐं क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय महाक्षोभं कुरु कुरु क्लीं सौः मोक्षं कुरु कुरु हसौः स्हौः' यह मन्त्र तीन भागों में बँटा है। प्रथम भाग वाग्भव का बना है, दूसरा कामवीज और तीसरा भाग शक्तिकूट से बना है और अन्त में प्रासादपरा और पराप्रासाद-वीजद्वय से युक्त है। इसका तात्पर्य यह है कि वाग्भवखण्ड से वेदादिशास्त्रों के प्रतिपादित प्रत्यगात्मा का, जो ब्रह्म से भिन्न नहीं है, बोध होता है। कामखण्ड से चित्तवृत्ति की उस अवस्था का बोध होता है, जब चित्त परिशुद्ध हो आत्मज्ञान का लाभ करता है। इसको आत्मगोचर अखण्डाकारवृत्ति कहते हैं। शक्तिखण्ड से मुक्तावस्था का बोध होता है। और प्रासाद-परा तथा पराप्रासाद वीजद्वय ब्रह्म और जीव के ऐक्य का व्यञ्जक है अर्थात् जीवन्मुक्तावस्था का द्योतक है। इसमें (विशेषार्घ्य में) परब्रह्म गुणातीता आद्या का आवाहन और पूजन इसी भाव को परिपूर्ण कर देता है कि इन्हीं पूर्वोक्त भाव-नाओं की पूर्णताद्योतक परा आदिशक्ति की उपस्थिति है। इसी एक भाव वा ज्ञान-द्वारा उसका पूजन और तर्पण हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। इसी हेतु शास्त्रों का आदेश है कि बिना विशेषार्घ्यामृत के देवता को कोई वस्तु निवेदित नहीं हो सकती है। इसके विन्दुमात्र तर्पण से देवता सन्तुष्ट होता है। परा देवता का एक नाम है। विन्दु जीव-भाव का द्योतक है। इसको देवता में अर्पण वा लय करना ही तर्पण है। यह तर्पण पद्धति के अनुसार सर्वप्रथम एक बार पञ्चतत्त्वात्मक मुद्रा से होता है। इसका भी तात्पर्य्य पञ्चमकारात्मक जीव-

भाव का लय है। मुद्रा सांकेतिकभाव की निर्देशात्मक क्रिया है। इससे अर्थात् विशेषार्घ्यामृत से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर-त्रय का संशोधन भी ब्रह्म के चतुर्थ आनन्दपाद की प्राप्ति का द्योतक है। इसी प्रकार वियदादि पञ्चतत्वात्मक शारीरिक अंशों की जड़ता इस अमृत से शोधित होती है, जिससे साधक अपने को विरजा और विपाप्मा समझता है। ऐसा ज्ञान होने पर ही विन्दु-स्वीकार है। विन्दु-स्वीकार का अर्थ है पात्र-स्वीकार। यह निदिध्यासन है। साधक अपने मूलाधार-स्थित चिदग्निमण्डल में कुण्डली शक्ति की भावना करता है। यह शक्ति सञ्चित कर्मरूपी ईंधन से जलती रहती है। साधक अपना वास्तविक परिचय पाकर इस चिदग्नि में अपने पुण्य-पाप, कृत्य-अकृत्य वा सुकृति-दुष्कृति, संकल्प-विकल्प, धर्म-अधर्म को भस्मसात् कर देता है अर्थात् वह जान लेता है कि यह प्रत्यगात्मा है। उसका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं है कारण कि वह न कर्ता है न कारण है। ऐसे निदिध्यासन से अपने प्राण, बुद्धि, देहाधिकार से अवस्था-त्रय अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में कृत कर्मों के ईंधन से वह मुक्त हो जाता है। तभी वह विन्दु-स्वीकार करता है और कह सकता है—

आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि।
योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि।
अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा॥

तात्पर्य्य यह कि पूर्ण ब्रह्मज्ञान हो जाता है। अतएव अपने को ब्रह्म समझकर अपने में ही विन्दु की, जो ब्रह्महवि है, आहुति करता है।

यह हुआ विशेषार्घ्य का रहस्य। इस विशेषार्घ्य वा विशेष यथार्थ-ज्ञान से तात्पर्य्य है ब्रह्म और जीव के ऐक्य का ज्ञान। इसी प्रकार भोगपात्र, बलिपात्र, गुरुपात्र इत्यादि के

रहस्य है। यहाँ मुख्य-मुख्य पात्रों का रहस्य लिखा जाता है—

गुरुपात्र—यह गुरुरूपी मनन का द्योतक है अर्थात् ब्रह्म का विमर्श वा आदिशक्ति के रूप में ज्ञान का द्योतक है। गुरु कारणशक्ति भी कहे जाते हैं। ये कारण हैं ब्रह्मज्ञान के।

भोगपात्र—यह भोक्तारूपी ब्रह्म के मनन का द्योतक है। अर्थात् भोक्ता केवल ब्रह्म है, मैं नहीं हूँ। जिस प्रकार कर्त्ता केवल ब्रह्म है मैं नहीं हूँ।

शक्तिपात्र—यह शक्तिरूपी ब्रह्म के मनन का द्योतक है। अर्थात् जितनी शक्तियाँ हैं, उसी शक्तिब्रह्म के रूपान्तर मात्र हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी की स्वतन्त्रशक्ति वा सत्ता नहीं है। इस पात्र से आवरणशक्तियों का पूजन और तर्पण होता है। इसका यही तात्पर्य्य है कि आवरणशक्तियाँ उसी एक पराशक्ति की हैं, जो उससे पृथक् नहीं हैं।

वीरपात्र—यह पुंलिंगात्मक ब्रह्म के मनन का द्योतक है। वाच्य ब्रह्म को त्रिलिंगात्मक मानना ही है नहीं तो अपूर्ण ज्ञान रहेगा। स्त्रीलिंगात्मक के अतिरिक्त भले ही पुंलिंगात्मक और अलिंगात्मक को गौणभाव से ही लें।

बलिपात्र—यह स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरत्रय का ब्रह्म में बलि वा एकीकरण का द्योतक है। यद्यपि भोगयागलक्षण से अविद्या हट चुकी है किन्तु संकल्प और विकल्प रहते ही हैं, जब तक जीव का प्रारब्ध वर्त्तमान रहता है। इन्हीं को ब्रह्म के संविदग्नि में भस्म करना बलिपात्र का काम है।

सप्तम खण्ड

(क) चतुरायतन पूजा—आयतन का अर्थ आलय वा घर है। चित्शक्ति सब पदार्थों में अर्थात् समस्त जगत् में व्याप्त है। अतएव समस्त जगत् ही इसका आयतन वा रहने का स्थान है। परन्तु इनमें शक्ति, उपयोगिता इत्यादिजन्य भेद मानसिक विकार मात्र हैं। श्रुति कहती है कि एक ही ब्रह्म है, जिसके अनेक रूप हैं। इस विचित्र त्रिगुणात्मक जगत् में जिन देवताओं वा उनके प्रधान रूपों में शुद्ध सत्व है, उनकी पूजा आवश्यक है। इसका तात्पर्य्य यह है कि उन दृष्टिकोणों से ब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है। उन देवताओं में गणपति, सूर्य्य, शिव और विष्णु हैं। इन चारों नामों का सूक्ष्मार्थ ब्रह्म ही है— गणपति का अर्थ है चतुर्दश भुवनों के ऊपर से नीचे (तिर्यक्) तक के गणों का स्वामी अर्थात् ब्रह्म इसकी पर्य्यायवाचक संज्ञा है विनायक 'विगतो नायको यस्य सः' अर्थात् जिसका कोई स्वामी न हो। ऐसा ब्रह्म ही है। सूर्य्य का भी अर्थ ब्रह्म है। शिव का अर्थ कल्याण है, जो ब्रह्म है। विष्णु का अर्थ है व्यापक (सत्ता)।

परमेश्वर ने जीव के कल्याण के लिए वेदों की सृष्टि की। वेद के ज्ञानकाण्ड को सर्वसाधारण के बोधगम्य करने के निमित्त भगवान् व्यास ने अठारह पुराण और उपपुराण लिखे। इनमें कहीं शक्ति और शिवरूपी ब्रह्म का कथानक के रूप में आख्यान है; कहीं विष्णुरूपी का, कहीं गणपति का, कहीं सूर्य्य का। उपास्य तो एक ही है, जो आदिशक्ति है। वही, इन चार

का क्या कहना, सब रूप धरती है। इन चारों में भेद नहीं है। इसी अभेद-भाव की आवश्यकता है। इसी हेतु मूलसत्ता आद्या की पूजा से पूर्व उसके चारों प्रधान वा मुख्यरूपों की पूजा होती है। यही चतुरायतनी पूजा का तात्पर्य्य है। शाक्त-शास्त्र का कहना है कि समस्त देवतागण चित्-शक्तिरूपी सूर्य्य की किरणें हैं। अतएव इन चारों गणपति, सूर्य्य, शिव और विष्णु को नाम और रूपरहित की भावना से चित्शक्ति समझना ही चतुरायतन पूजा का रहस्य है। इस प्रकार नाम और रूपरहित चित्शक्ति के ज्ञान को स्व-प्रधान उपास्ति कहते हैं। उपास्ति वा पूजा तीन प्रकार की है—स्वप्रधान, समप्रधान और अस्व-प्रधान।

(१) जिस उपास्ति में साधक अपनी आत्मा को ब्रह्म से भिन्न न समझकर नाम और रूप का लय कर देता है, वह स्व-प्रधान है। इसको परापूजा भी कहते हैं। इसके अधिकारी उत्तम वा दिव्य हैं।

(२) समप्रधान उपास्ति वह है, जिसमें नाम और रूप के भाव को रखकर किन्तु अध्यासमात्र समझकर ही पूजा होती है। इसको पराऽपरा वा मिश्र भी कहते हैं। इसके अधिकारी मध्यम वा वीर हैं।

(३) अस्वप्रधान उपास्ति वह है, जिसमें नाम और रूप के भाव को प्रधान समझकर मूलसत्ता को न समझकर पूजा होती है। इसको अपरा वा गलितपूजा भी कहते हैं। इसके अधिकारी अधम वा पशु हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्वप्रधान उपास्ति में चार क्या तैंतीस करोड़ देवताओं की पूजा हो सकती है, परन्तु

अन्तर्लक्ष्य एक ही चित्शक्ति है। यह भी उपासक से भिन्न नहीं है।

(ख) आवरणपूजा--आवरण का अर्थ है परदा। परदा डालकर ही खेलाड़ी का खेल होता है। अगर परदा न रहे तो खेल का मजा ही न रहे। खेलाड़ी 'पर्दा-दर-पर्दा' के अन्दर छिपा बैठा है और सारे जगत् को कठपुतली की तरह वहीं से बैठा-बैठा कर्मरूपी तार खींचता हुआ नचा रहा है। यही माया वा नाम और रूप कूटस्था जगदम्बा का आवरण है। इसी आवरण को हटाकर अर्थात् संहारक्रम से पूजा वा निदिध्यासन करने से उस कूटस्था को हम अपने में पाकर उसे विश्व में पा लेते हैं। इसी को अर्थात् आवरण-भेदन को हठयोग में षट्चक्र-भेदन कहते हैं। यह कूटस्था आवरण के कारण अदृश्य है। अदृश्यत्व इसका गुण है न कि स्वभाव। इस अदृश्य को कौन और किस प्रकार देख सकता है? इसको धीर ही देख सकते हैं।

प्रथम आवरण है षडङ्ग। विग्रह के ये छः मुख्य अङ्ग हैं—हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र। इन्हीं छहों से रूप बनता है।

द्वितीय आवरण है गुरुमण्डल। गुरुमण्डल का अर्चन देवता के शब्दरूपी अङ्ग के मनन का द्योतक है। गुरु अज्ञान के लय और ज्ञान के उदय का द्योतक है। अज्ञान का नाश केवल ज्ञान-द्वारा होता है। यह ज्ञान दो प्रकार का है—परोक्ष और अपरोक्ष। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य्य है ब्रह्मज्ञान वा आत्मज्ञान। ब्रह्म वा आत्मा केवल शब्दप्रमाण-द्वारा जाना जा सकता है। अन्य प्रमाण अनुमान, उपमा आदि यहाँ काम नहीं दे सकते। कारण यह अनुमान से परे है। निरुपमेय होने

के कारण उपमाप्रमाण भी व्यर्थ है। और अदृश्य का प्रत्यक्ष प्रमाण हो ही नहीं सकता है। तब केवल शब्दप्रमाण ही रह जाता है, जिससे कूटस्था का ज्ञान होता है। सद्गुरु के उपदेश से ही यह शब्दज्ञान होता है। अतएव गुरूपदिष्ट महामन्त्र और महावाक्यों का मनन ही गुरुमण्डल का अर्च्चन है। शब्दब्रह्म के मनन में निष्णात होने पर ही परंब्रह्म का ज्ञान होता है।

तृतीय आवरण है पञ्चदशी नित्यायें। ये पन्द्रहो नित्यायें काल की द्योतक हैं। इसी से प्रतिपदा से पञ्चदशी अर्थात् अमावास्या वा पूर्णिमा तक एक एक नित्या का प्रति तिथि में पूजन होता है। काल का देश से अभिन्न सम्बन्ध है। आद्या वा महा नित्या अङ्गी के ये दोनों काल और देश अङ्ग हैं। इन्हीं दोनों अङ्गों को अङ्गी में लय करना नित्याओं के यजन का तात्पर्य्य है।

चतुर्थ आवरण है ब्राह्मी आदि अष्टशक्तियाँ। ये अष्टप्रकृति की द्योतक हैं। और अविद्या की व्यञ्जकवृत्ति पर अष्टदल में इनकी स्थिति है अर्थात् ये मूलविद्या से उत्पन्न हैं। इस आवरण-पूजा का तात्पर्य्य है ब्रह्म के अचिद् अंश का ज्ञान, जिसे पूजन के पश्चात् उसी चिद्ब्रह्म में लय कर देते हैं।

पञ्चम आवरण है असितांग आदि अष्टभैरव। ये अष्ट-साधन विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान के द्योतक हैं। ये मोक्ष के साधन होने से मोक्षदाता कहे जाते हैं। अतएव भैरव कहे जाते हैं। और भैरव का अर्थ है मोक्षदाता।

षष्ठ आवरण है दशदिग्पाल अर्थात् इन्द्र, अग्नि, यम इत्यादि। ये समस्त जगत् के व्यापकरूप के द्योतक हैं। इस आवरणपूजा का तात्पर्य्य है जगत्-ज्ञान को ब्रह्मज्ञान में लय

करना। अर्थात् जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है, इसका बोध होना।

कादिक्रम में सृष्टिक्रम में ये ही छः आवरण मुख्य हैं। दो और हैं। सप्तम आवरण है इन्द्रादि दशदिग्पालों के आयुध और अष्टम आवरण हैं देवता के आयुध, जिनका उल्लेख पृथक् आयुधार्च्चन में होगा।

सृष्टिक्रम में पूजन प्रवृत्तिमार्गियों के लिए है। आवरण-पूजा की आवश्यकता इसलिए है कि बिना मनन के निदिध्यासन नहीं हो सकता है। यह मनन है। मनन को अभ्यास भी कहते हैं। और अभ्यास को आवृत्ति भी कहते हैं। आवृत्ति और आवरण एकवाचक हैं। आवरण-पूजा इस हेतु ब्रह्म-विचार से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। इसकी आवृत्ति एक ही बार नहीं अनेक बार होती है। आवृत्ति-विचार की आवश्यकता उत्तमाधिकारी को नहीं है, कारण वह तो गुरु-द्वारा महामन्त्र वा महावाक्य से दीक्षित होने पर ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु दूसरों के लिए, जो अंश-भावना और विपरीत भावना दोषद्वय से दूषित हैं, यह सिद्धि असम्भव है। असंभावना को संशय कहते हैं। यह संशय दो प्रकार का है प्रमाणगत और प्रमेयगत। प्रमाणगत संशय मिटता है पूर्वजन्मार्जित पुण्य से प्राप्त सद्गुरु-द्वारा वेदान्तशास्त्र के समन्वय से। और प्रमेयगत संशय केवल मनन-द्वारा हटता है। यह आवरण-पूजा-द्वारा व्यावहारिक रूप से सम्पादित होता है। संहारक्रम से भूपुरात्मक प्रथम आवरण से जगत् का लय करते हैं। तत्पश्चात् अष्टप्रकृति का। तब कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च-प्राणों का अर्थात् काल का लय करते हैं, जिससे काल से मुक्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् शब्दब्रह्म से एकीकरण करते हैं। अन्त में षडङ्गार्च्चन वा अन्तिम आवरण की अर्चा-द्वारा रूप

का भी लय करके परविन्दुरूपी चिद्ब्रह्म तक पहुँचते हैं। पद्धति के अनुसार प्रत्येक आवरण की अर्चा पराशक्ति को समर्पित होती है। इसका यह तात्पर्य्य है कि प्रत्येक आवरणपूजा अर्थात् मनन के समाप्त होने पर उतना हम चित्शक्ति के समीप पहुँच गये। इस प्रकार सब आवरणपूजा कर लेते हैं अर्थात् अपनी आत्मा से परब्रह्म को भिन्न नहीं मानते हैं।

(ग) आयुधार्च्चन—पद्धति का आदेश है कि सप्तम आवरण के बाद अष्टम आवरण रूप देवी के खड्ग, मुण्ड, वर और अभय इन चार अस्त्रों का पूजन करे। आयुध का तात्पर्य्य धर्म्म वा गुण है। इनके पूजन का तात्पर्य्य है धर्म का धर्मी में वा गुण का गुणी में लय करना। ये अस्त्र समाधि की लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चारों बाधाओं का नाश करते हैं।

१ खड्ग—ज्ञानरूपी खड्ग कषाय को हटाता है। अर्थात् कषाय से जो अनात्मभाव रहता है, वह दूर हो जाता है।

२ मुण्ड—ज्ञान-तत्वाधार मुण्ड लय को हटाता है। यह आत्मभाव में अरुचि का द्योतक है। अनात्मभाव नाम और रूप पर अवलम्बित है।

३ वर—विक्षेप से त्राण ही वर है, जो चित्तवृत्ति को अन्तर्मुखी करता है, जिससे विक्षेप नहीं होता है।

४ अभय—रसास्वादरूपी महाबाधा का हटाना ही अभय है। यह जितेन्द्रियत्व का व्यञ्जक है। जब ज्ञानेन्द्रियाँ विषय, शब्द इत्यादि से हटकर मन में लीन हो जाती हैं तो संकल्प-विकल्प वा रसास्वाद का भय नहीं रह जाता है।

उपासक इस अवस्था में अर्थात् अष्टम आवरण की अर्चा करने पर मनन से निदिध्यासन में पहुँच जाता है। परन्तु एक ही बार करने से यह भाव स्थिर नहीं रहता है। जैसे किसी

वृक्ष की शाखा को पकड़ किसी एक दिशा में झुका देते हैं, परन्तु छोड़ देने पर शाखा पूर्ववत् हो जाती है। इसी प्रकार निदिध्यासन में आत्माकारवृत्ति आ तो जाती है परन्तु पुनः अनात्माकारवृत्ति हो जाती है। अतएव जिस प्रकार वृक्ष की शाखा को बार-बार नियमपूर्वक हाथ से पकड़ ईप्सित दिशा में झुकाते-झुकाते शाखा का झुकाव अनायास स्थिर हो जाता है, उसी प्रकार निदिध्यासन का अक्षुण्ण अभ्यास करने पर चित्त की आत्माकारवृत्ति स्थायी हो जाती है और फिर अनात्माकार नहीं होती है। इसी हेतु शास्त्रों का आदेश है कि नित्यकर्म का लोप न करे। अर्थात् मरणपर्यन्त अनुष्ठान में लगा रहे। इसी को निदिध्यासन कहते हैं, जो चक्रपूजा का सङ्केत है। इसकी उपयोगिता यही है कि अपरोक्ष आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक अभानावृत्तिरूप विपरीत भावना की निवृत्ति हो। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि चित्शक्ति के अनेक आवरण हैं तथापि यथार्थ में श्रीचक्र का आवरणदेवता एक ही है, जो स्वयं परदेवता सच्चिदानन्द पराहन्ता-रूपिणी है।

(घ) षडाधार-पूजा—शास्त्रों का कथन है कि शरीर में अनेक चक्र हैं। इनमें छः व्यक्त हैं और अन्य अव्यक्त हैं। इन चक्रों को वृत्ति कहते हैं कारण प्रत्येक चक्र के दल वृत्ति के ही व्यञ्जक हैं। यथा प्रथम मूलाधारचक्र के चार दल हैं। ये चारों योगानन्दावस्था, प्रेमानन्दावस्था, सहजानन्दावस्था और परमानन्दावस्था के द्योतक हैं। अर्थात् इन चारों अवस्थाओं का अनुभव इन्हीं दलों में क्रमशः होता है। इसका दूसरा नाम भूर्लोक है। स्वाधिष्ठान के छः दल हैं—प्रश्रय, अविश्वास, अवज्ञा, मूर्च्छा, सर्वनाश और क्रूरता। ये छः वृत्तियाँ इस स्थान में अनुभवित होती हैं। इसको भुवर्लोक कहते हैं। मणिपुर के

दशदल हैं अर्थात् लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, तृष्णा, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, मोह, घृणा और भय का इस स्थान में अनुभव होता है। इसको स्वर्लोक कहते हैं। अनाहत के द्वादशदल हैं, जो क्रमशः आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दम्भ, विकलता, अहङ्कार, विवेक, चञ्चलता वा लोलता, वितर्क, अनुताप और तृष्णा इन द्वादशवृत्तियों के द्योतक हैं। यह महर्लोक है। विशुद्धि वा भारती स्थान के षोडशदल हैं। यहीं सप्तस्वर का स्थान है। यह जनलोक है। इसके ऊपर तालुमूल में अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्मतर ललना वा कलाचक्र है। यह द्वादशदल का है, जो श्रद्धा, सन्तोष, अपराध, दम, मान, स्नेह, शोक, स्वेद, शुद्धता, अरति, सम्भ्रम और उर्मी वा राग के द्योतक हैं। आज्ञा-चक्र का नाम परमकुल वा त्रिवेणी भी है। इसके दो दल हैं। इसको तपोलोक कहते हैं। इसके ऊपर छः दलों का मानसचक्र है। इसमें शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, आघ्राणोपलब्धि, रसोपभोग और स्वप्न का अनुभव होता है। इसके ऊपर सोमचक्र है। इसकी कृपा आदि सोलह कलायें और १६ वृत्तियाँ हैं, जिनसे सोलह कलाओं का अनुभव होता है। इसके ऊपर निरालम्बपुरी है। इसके ऊपर गुरुचक्र द्वादशदलों का है। यहाँ परमहंस है, जिस पर गुरुपादुका है। इस हंस का शरीर ज्ञानमय है। दोनों पांखें आगम और निगम हैं। हंस के दोनों पाद शिव और शक्ति हैं। चञ्चु प्रणव, नेत्र और कण्ठ कामकला है। इसके ऊपर अमाकलाचक्र है। इसमें मुक्तिदायिनी निर्वाणकला है, जो चिच्चन्द्र की सोलहवीं कला है। इसके ऊपर सहस्रदलचक्र है। इसमें सब वृत्तियाँ अव्यक्त भाव से हैं। इसी का नाम सत्यलोक है।

इन चक्रों में छः ही व्यक्त हैं। इनमें चित्शक्ति के रूपान्तर छः शक्तियाँ उपाधिभेद से अवस्थित हैं। यथा मूलाधार से

शाकिनी, स्वाधिष्ठान में काकिनी, मणिपुर में लाकिनी, अनाहत में राकिनी, विशुद्धि में डाकिनी और आज्ञा में हाकिनी है। ये छहों शक्तियाँ क्रमशः गणेश, ब्रह्मा, रुद्र (सदाशिव), जीव और परमात्मा की व्यञ्जिका हैं। इन देवताओं को पराशक्ति के ही भेद समझना षडाधारपूजा का तात्पर्य्य है।

इसका रहस्यज्ञान दूसरे प्रकार से यह है कि कूटस्था आद्या सर्वोच्च परमाकाश है। इसकी परिभाषा है—

अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं।
निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम्॥

इसी परमाकाश में आकाश, पराकाश, महाकाश और सूर्याकाश चारों का लय होता है। यह अस्पन्दन है अतएव इसी को परप्रणव कहते हैं। यही षडाधार है। षट् से छः कलाओं का बोध होता है। षडाधार उसी का नाम है, जिसके छः आधार हों अर्थात् जो छः सत्ताओं से ऊपर वा परासत्ता हो। इन छहों कलाओं के नाम शाक्त-शक्तिक्रम से ये हैं—

१ परा, २ परात्परा, ३ परात्परातीता, ४ चित्परा, ५ चित्परातीता, ६ चित्परातीताऽतीता। ये छः कलायें सातवीं अन्तिम सर्वातीता आद्या के आधार हैं। इन छः आधारों की पूजा किये बिना अर्थात् इनका तत्वज्ञान प्राप्त किये बिना सर्वातीता का ज्ञान नहीं हो सकता। यह अमनस्काभ्यास है। इसी हेतु आद्योपासक बालोन्मत्त पिशाचवत् जड़वृत्ति से संसार में रहता है। ऐसा ही उपासक संन्यासी है, परमहंस है और अवधूत है कारण यह संप्रज्ञात समाधिजनित ब्रह्मामृत का पानकर नित्यतृप्त रहता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि पूर्वोक्त सातों कलाओं को क्रमशः अकार, उकार, मकार, नाद, नादातीत, विन्दु और विन्दुतीता कहते हैं। इनको ही पञ्चक्रम से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शान्ति और तदतीता

कहते हैं। शान्ति का दूसरा नाम भुवनेश है। पूर्वपञ्चकला-पञ्चक अपरप्रणवद्योतक हैं। इनके परे भुवनेश महादेव हैं, जिसके नाभिकमल पर तदतीता परप्रणवरूपिणी कूटस्था आद्या है। भुवनेश ही प्रपञ्चेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी है। अर्थात् छठी कला ही सुन्दरी भगवती है।

पूर्वक्रम व्यष्टि अर्थात् पिण्डाण्ड षडाधार का और परक्रम ब्रह्माण्ड वा समष्टि षडाधार का बोधक है। इस रहस्य का ज्ञान हठयोग, मन्त्रयोग, राजयोग आदि सभी की क्रियाओं से होता है। तात्पर्य्य एक है। मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

(च) आम्नायसमष्टि-पूजा—आम्नाय शब्द का अर्थ है वेद। वैसे तो अनेक आम्नाय हैं परन्तु चार मुख्य हैं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर। ये क्रमशः ऋक्, यजुः, अथर्व और साम हैं। ऊर्ध्वाम्नाय में उपनिषदों का वाच्यार्थ है और अनुत्तराम्नाय में लक्ष्यार्थ है। आम्नायसमष्टि-पूजा का वास्तविक तात्पर्य्य यही ज्ञान है कि 'अहं' का लक्ष्यार्थ, जो चित्शक्ति है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यही वेदों के कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन काण्डों का चरम सिद्धान्त है। छहों आम्नायों में सातकोटि महामन्त्रों का उल्लेख है। यह अतीव आवश्यक है कि हम इन सभी मन्त्रों को एक चित्शक्ति का ही शाब्दिक शरीर वा रूप समझें।

सहस्रनामार्चन और शतनामार्च्चन—शास्त्रों में चित्शक्ति के शत, त्रिशत और सहस्रनाम के पाठ-विधान दिये गये हैं। और इनके प्रत्येक नाम से पूजन की विधि है। जिस प्रकार नाम-पाठ वा नाम-कीर्त्तन का यह तात्पर्य्य है कि उस एक चित्शक्ति की अनेकता में भी एकता का ही ज्ञान रहे, उसी प्रकार पूजन का भी यही तात्पर्य्य है। इससे ब्रह्म में तादात्म्य

भाव अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का ज्ञान होता है जैसा कि पूजा-संकेत है। नाम के चतुर्थ्यन्त रूप के आदि में प्रणव और अन्त में नमः को योजित करने से प्रत्येक नाम को महामन्त्र के रूप में परिणत कर पूजन होता है। यथा—'ॐ क्रीं काल्यै नमः'। इसका यह अर्थ है—

ॐ—वेदप्रणव अर्थात् शब्दब्रह्म,

क्रीं—तन्त्र-परप्रणव अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म,

काल्यै—चिदचिद्ब्रह्म अर्थात् पूर्णब्रह्म के प्रति,

नमः—नमस्कार करता हूँ अर्थात् एक होता हूँ।

सोहंभाव ही परमानन्द का एक कारण है अतएव 'नमः' सोऽहंभाववाचक है। इस प्रकार सहस्र बार वा त्रिशत वा शत बार भी करने से निदिध्यासन होता है। इसको 'असकृत् आवृत्ति' कहते हैं। इसका ही नाम अभ्यास है कारण सकृत् वा एक आवृत्ति से अभ्यास नहीं होता है।

यह पूजा रक्तपदार्थ से होती है अर्थात् रक्तपुष्प यथा जवा, करवीर इत्यादि वा रक्तचन्दन वा सिन्दूर-लोलित अक्षत से।

अष्टम खण्ड

पूजा के उपचारों का उल्लेख पहले हो चुका है। सबके लक्ष्यार्थ का अन्वेषण करने का प्रयत्न किया गया है। तथापि धूप, दीप, नैवेद्य इत्यादि का दूसरे दृष्टिकोण से संक्षेप में यहाँ लक्ष्यार्थ दिया जाता है—

(क) धूप—एकाकारवृत्ति से परमात्मा से अभिन्न आत्मा में शब्द-स्पर्शादि समस्त विषयानुभवों को लय कर लेना ही धूप है। धूम्र-रहित अग्नि में गुग्गुल इत्यादि छोड़ने से एक प्रकार का प्रिय वायुरूप द्रव्य (गैस) पैदा होता है। यही धूप का गन्ध अग्नि में पड़ते ही धूप से पृथक् हो जाता है। इसी प्रकार चिदग्नि में शब्द, स्पर्श इत्यादि विषयानुभवों को समर्पण कर देने से ज्ञानयोग की महिमा फैलती है और साधक को अवर्णनीय निर्लिप्तत्व-तृप्ति होती है क्योंकि वह आत्मरूप से नहीं प्रत्युत सर्वव्यापक सर्वान्तरात्मकरूप से रसास्वाद करता है।

(ख) दीप—साधक देवता को निम्नलिखित मन्त्र से दीप का निवेदन करते हैं—

सुप्रकाशो महादीपः सर्वत्र तिमिरापहः।
सबाह्याभ्यन्तरज्योतिर्दीपोयं प्रतिगृह्यताम् ॥

इस दीपदान-द्वारा साधक अपने अज्ञान का नाश करता है और अपनी अखण्डाकारवृत्ति को पुष्ट करता है।

(ग) नैवेद्य—पद्धति के अनुसार परदेवता को तादात्म्य-भाव से ही भोग्य पदार्थ निवेदित करना चाहिये। तादात्म्य-भाव तब होता है जब नाम रूप की कल्पना हट जाती है और प्रत्येक पदार्थ में चिद्भाव होता है। इस हेतु पद्धति में निम्न सांस्कारिक क्रियायें दी हैं, जिनसे बाह्यरूप से नैवेद्य पदार्थ

का पवित्र होना कहा गया है परन्तु वस्तुतः इनसे साधक के अन्तःकरण के ही संस्कार का लक्ष्य है—

१ निरीक्षण—'मूलेन पश्येत्' अर्थात् मूलमन्त्र से देखना। इसका तात्पर्य है कि देखनेवाले की चेतना का दृश्य नैवेद्य-पदार्थ की चेतना से एक होकर मूलाधारचेतना से एक होना।

२ प्रोक्षण—'फडिति प्रोक्षिणीपात्रामृतेन प्रोक्षयेत्' अर्थात् अस्त्रमन्त्र 'फट्' से प्रोक्षिणीपात्र के अमृत से सिञ्चन करना प्रोक्षण है। अस्त्र का प्रयोग है दूरीकरण में। यहाँ 'फट्' से नामरूपात्मक अज्ञान दूर होता है।

३ अवगुण्ठन—'हूमिति अवगुण्ठयेत्' अर्थात् 'हुँ' मन्त्र से पदार्थ को घेरना। 'हुँ' कवचवीज है। इससे रक्षण का कार्य होता है। यहाँ रक्षा निरीक्षण की होती है, जो अभेदभाव का द्योतक है। यह अवगुण्ठन वृत्ताकार होता है, जिसका लक्ष्यार्थ अखण्डाकारवृत्ति है।

४ दोष-निरसन—अर्थात् पदार्थ के दोषों को हटाना। दोष तीन हैं—अध्यासित दृष्टि, आघ्राण और आस्वाददोष, जिनका वोध क्रमशः चक्षु, नासिका और जिह्वा से होता है। पहले वायुवीज 'यं' से दोषों का शोषण करते हैं तब वह्निवीज 'रं' से उन्हें जला देते हैं। अन्त में स्वाददोष को अमृतवीज 'वं' से अमृतीकरण करते हैं। अमृत केवल सत्य है। तदनन्तर कामधेनुमन्त्र से धेनुमुद्रा दिखाई जाती है। कामधेनु का अर्थ है कामना-पूर्ति करनेवाली गाय। यह वह अवस्था है, जिसमें वासना का सर्वथा नाश हो जाता है और किसी प्रकार की कामना नहीं रह जाती। धेनुमुद्रा इसी भाव का द्योतक है। चक्रमुद्रा उत्सर्ग-समय में दिखलायी जाती है। ब्रह्मज्ञान ही चक्र है, जो अखण्डाकारवृत्ति का द्योतक है। अतएव यह स्पष्ट

है कि नैवेद्य की संस्कारविधि का तात्पर्य है नैवेद्य को विद्यामय समझना।

(घ) कुलदीप—कुल का लक्ष्यार्थ है त्रिपुटी अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। और दीप का अर्थ है ज्ञान। त्रिपुटी दो हैं—बाह्य और आन्तरिक। दोनों अविद्यामूला होने से अशुद्ध हैं।

अन्तस्तेजो वहिस्तेज एकीकृत्यामितप्रभम्।
त्रिधा दीपं परिभ्राम्य कुलदीपं निवेदये॥

इस दीपरूपी ज्ञान को तीन बार भ्रमण करके निवेदित करना है। तीन बार भ्रमण करने से तात्पर्य है भावना से क्रमशः बाह्य और आन्तरिक त्रिपुटी का परिशोधन। और तीसरी प्रदक्षिणा में दोनों विशुद्ध त्रिपुटियों के ज्ञान का भी महाप्रकाश में लय करते हैं। इसको तुरीयावस्था कहते हैं।

(ङ) कर्पूर-नीराजन—अर्थात् परदेवता को कर्पूर का स्निग्ध प्रकाश दिखलाना। चित्शक्ति को प्रकाश दिखाने का तात्पर्य है अपनी अविद्या का आवरण हटाना। अविद्या केवल विद्या से हटती है, कर्पूर की तेजशिखा अखण्डाकार ज्ञान का द्योतक है। जैसे कर्पूर तेजशिखा में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार नाम-रूपात्मक अविद्या चित्प्रकाश में विलीन हो जाती है। इससे कालिका वा चित्पराशक्ति-तनुता की प्राप्ति होती है।

(च) पञ्चपुष्पाञ्जलि—यह महामन्त्र वा महावाक्य का मनन करते हुए परदेवता के चरणों पर पुष्प-समर्पण करना है, ब्रह्मविद्यारूपी वृक्ष की आत्मगोचरवृत्तियाँ पुष्प हैं और इस वृक्ष का फल है ब्रह्मज्ञान। अतएव पुष्पाञ्जलि का सूक्ष्मतात्पर्य है अखण्डाकारवृत्ति। इससे अज्ञान का आवरण हटता है, जिससे ब्रह्मज्ञान होता है।

नवम खण्ड

(क) जप—यह पूजा का सबसे प्रधान महत्त्वपूर्ण अंग है। यह स्वयं निदिध्यासन है, जो बहुत जल्द समाधि में परिणत होता है। यह बिना प्राण-निरोध के ठीक से सम्पादित नहीं हो सकता है। अतएव यह सब यज्ञों से कठिन और श्रेष्ठ है। इसी से सिद्धि होती है।

(ख) होम—होम शब्द 'हुं' धातु से बनता है, जिसका अर्थ त्याग है। परन्तु साधारणतः इसका अर्थ है संस्कृत अग्निज्वाला को इष्टदेवता की जिह्वा समझ देवता के प्रिय पदार्थों को उसमें अर्पित करना।

पद्धति के अनुसार होम का स्थण्डिल वा कुण्ड यागमन्दिर के ईशानकोण में बनाना चाहिये। चिच्चन्द्रमंडल में बड़े बड़े आठ दलों का सहस्रार है, जिसके मध्य में सवा सौ छोटे-छोटे दल हैं। इसकी कर्णिका में हंस अर्थात् आत्मा है, जो चक्रवत् चित्तवृत्ति के परिवर्तन के अनुसार आठों दलों में घूमता रहता है। अर्थात् संस्कारवश आठों प्रकार की भावनाओं से क्रमशः भावित होता रहता है। ईशानदल में जाने पर आत्मा को त्यागबुद्धि होती है।

त्यागबुद्धि और ज्ञान सूक्ष्मरूप से एक ही हैं। जब यागमन्दिर का वास्तविक अर्थ शुद्ध चित्तवृत्ति है तब हवन-स्थान का ईशानकोण में होना ठीक है कारण शुद्ध चित्तवृत्ति की त्यागबुद्धि ही उपयुक्त ज्ञान है, जिसके द्वारा अहन्ता और ममता को सम्वित्‌रूपी अग्नि में भस्म करते हैं। जब तक मन

की आहुति चिदग्नि में नहीं दी जाती है तब तक हवन एक आडम्बर मात्र है। होम का तात्पर्य है वासना-क्षय वा मनो-नाश। इससे जीवन्मुक्ति होती है।

(ग) बलिदान—यह दो प्रकार का है नित्य और नैमित्तिक। नैमित्तिक वलिदान का उल्लेख हो चुका है। यहाँ नित्यवलि का, जो विघ्नकारक भूतों को दी जाती है, संक्षेप में उल्लेख है।

पद्धति के अनुसार देवता के वामभाग में रक्तचन्दन इत्यादि से व्यापकमण्डल लिखकर वलिपात्र में नैवेद्य का किंचित् भाग, जो इसी के हेतु रखा गया है, रखकर—

ॐ ह्रीं सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हुँ फट् स्वाहा।

मन्त्र से भूतों को वलि दे। गौडक्रम में पूजा के आदि, मध्य और अन्त में तीन वार वलि दी जाती है। काश्मीरक्रम में केवल आदि में और केरल में केवल अन्त में एक बार दी जाती है।

वलिदान का अर्थ है पदार्थ को देवता में अर्पण करना। इस अर्थ में नैवेद्य भी वलि के अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु नैवेद्य और वलि में भेद है। नैवेद्य का ग्रहण आवश्यक और विहित है किन्तु वलि-स्वीकार अविहित है क्योंकि नैवेद्य पर-देवता अर्थात् चित्शक्ति को अर्पण किया जाता है। और वलि भूतों अर्थात् विघ्नकारक द्वैत बुद्धि-शक्तियों को दिया जाता है। इसलिये वलि का स्वीकार निषिद्ध है।

पद्धति कहती है—

वलिपात्रे निवेदनसामग्रीः किंचित् किंचिदादाय।

अर्थात् वलिपात्र में निवेदित सामग्रियों का थोड़ा अंश रखकर। तात्पर्य्य यह है कि नैवेद्य के दो ही अंश, जो उसके अज्ञान-भाग अर्थात् नाम और रूप हैं, वही वलिदान-योग्य हैं

और उसका ज्ञान-भाग परदेवता को निवेदित होता है। इसी से ज्ञानांश मात्र का स्वीकरण विहित और अज्ञानांश का निषिद्ध है। चित्शक्ति में पदार्थ के तीन ही अंश अस्ति, भाति और प्रिय अर्पित हो सकते हैं। नाम और रूप असत् वा अचित् होने के कारण चित्शक्ति में अर्पित नहीं हो सकते हैं। व्यापक-मण्डल लिखकर वलिपात्र रखा जाता है। तब उत्सर्ग होता है। व्यापकमण्डल का अर्थ है अखंडाकारवृत्ति। इसके बिना चिद्-ब्रह्म और अचिद्ब्रह्म का ऐक्य-ज्ञान नहीं होगा। वलिदानमन्त्र के पहले दो बीज 'ॐ ह्रीं' क्रमशः प्रकाश और विमर्श-प्रणव हैं। इनसे नाम और रूप के अभ्यास का लय करके साधक विघ्न-कृत भूतों को हटाते हैं अर्थात् अपना अज्ञानांश दूर करते हैं। मन्त्र के अन्तिम भाग 'हूं फट्' से अपने अज्ञानांश को हटाकर 'स्वाहा' से उस भाव वा ज्ञान को लीन करते हैं।

(घ) सुवासिनी-पूजा वा शक्तिपूजा—सुवासिनी कहते हैं उस स्त्री को, जिसका पति जीवित है। परमब्रह्म वा परमशिव नित्य है अतएव उसकी चित्शक्ति ही नित्यसुवासिनी है। इस पूजा का तात्पर्य्य यह है कि मुख्य सुवासिनी वा परदेवता का ज्ञान गौण सुवासिनी में भी हो। 'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु' इस भाव को चरितार्थ करना ही सुवासिनीपूजा का तात्पर्य्य है। शक्तिपूजा की विधि अनेक प्रकार की है यथा दूती-याग इत्यादि। ये नैमित्तिक हैं। इन पूजनों से देवता-दर्शन वा आत्मदर्शन तक होते हैं। परन्तु प्रसंग के बाहर होने के कारण यहाँ उल्लेखनीय नहीं है। नित्यपूजन ही प्रकृत विषय है।

अलिपात्रदान—पद्धति के अनुसार सुवासिनी का पूजन पाद्य, अर्घ्य इत्यादि से करने के बाद शक्तिपात्र (अलिपात्र) अर्पित होता है। अलि का अर्थ है सुरा वा सुधा। अलिपात्र में विशेषार्घ्यामृत रहता है, जिसका तात्पर्य्य पहले लिखा जा

चुका है। अतएव विशेष ज्ञान के सङ्ग-सङ्ग एकशक्तित्व ज्ञान-व्यञ्जक ही शक्तिपात्र है। इसको स्वीकार कर शक्ति, जो चित्-पराशक्ति का प्रतीक है, प्रसादस्वरूप उच्छिष्ट साधक को देती है। 'वत्स तुभ्यं ददाम्यहम्' इस मन्त्र से दान होता है। इसका तात्पर्य्य है कि परदेवता उसके अज्ञानांश को अपने में ही लीन कर विशुद्धचेतना मात्र साधक को प्रदान करती है। 'पीतशेषं कुलामृतं मया दत्तं'—यहाँ कुलामृत भोग्य, भोक्ता, भोग और प्रेरिता का द्योतक है। इनको चित्शक्ति में भोगत्याग-लक्षणा द्वारा लीन करना है।

इसमें एक और रहस्य है। बिना देवता-प्रसाद के यथार्थ विशेष ज्ञान से भी यथार्थ आनन्द नहीं होता है। सुवासिनी-द्वारा उच्छिष्ट दान वा प्रसाद-दान का यही सूक्ष्मतर तात्पर्य्य है।

(ङ) सामयिक-पूजा वा वीरपूजा—साम्यप्राप्त्यर्थक समय शब्द है। इसका एक विशेष भाव यह है कि समय का, जो शिव का पर्य्यायवाचक है और समया का, जो शिवा का पर्य्यायवाचक है, समभाव से मानस आराधन करनेवालों को सामयिक कहते हैं। सामयिक का पर्य्यायवाचक शब्द वीर है। जिस प्रकार सुवासिनी केवल चित्पराशक्ति है, उसी प्रकार वीर केवल परशिव मात्र है। इन्द्रादि देवता तक बाह्यदर्शन-प्रधानत्वात् पशु हैं। बल से वीर होता है। बल ब्रह्म है। वीर-पूजा का तात्पर्य्य है पुरुष (पुं) रूप ब्रह्म की पूजा। वीरब्रह्म की पूजा केवल ब्रह्माभ्यास-द्वारा ही हो सकती है। ब्रह्माभ्यास है शिव और शक्ति के सामरस्य का चिन्तन। अतएव जीव-ब्रह्मैक्यविषयी कथोपकथन ही सामयिक पूजा है। इसको तान्त्रिकी भाषा में चक्रार्चन कहते हैं।

दशम खण्ड

(क) पूजा-समर्पण—पूजा निदिध्यासन और सविकल्प समाधि है, यह पहले कई बार कहा जा चुका है। निदिध्यासन और सविकल्प समाधि जीवब्रह्मैक्य-ज्ञान है, जो अखण्डाकार-वृत्ति है। यह अखंडाकारवृत्ति ही विमर्श है। इसको वृत्तिज्ञान भी कहते हैं। इस वृत्तिज्ञान को परदेवता में लय करना है। तभी निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हो सकती है। हृदयग्रन्थियाँ जब खुल गयीं, संशय हट गया, कर्मबन्धन टूट गये तब निदिध्यासन तथा सविकल्पसमाधि वा अखंडाकारवृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। विमर्शज्ञान वा शुद्धत्रिपुटी का लय हो जाता है, ज्ञेय अर्थात् ब्रह्ममात्र रह जाता है। ज्ञाता और ज्ञान का ज्ञेय में लय होता है। इसी भाव को पूजा-समर्पण कहते हैं। ज्ञाता-भाव तो पूर्व ही सविकल्प समाधिरूपी पूजा-द्वारा लीन हो गया। और पूजा-समर्पणरूपी ज्ञान का भी लय कतकरेणुवत् होता है।

पूजा-समर्पण का पद्धति में यह मन्त्र है—'इतः पूर्वं प्राणबुद्धि-देहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु सर्वास्ववस्थासु मनसा वाचा कर्मणा यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा। मदीयं सकलं श्रीमद्दक्षिणकालिकाम्बाचरणे निवेदित-मस्तु।' इस मन्त्र के दो भाग हैं। एक 'इतः' से लेकर 'भवतु' तक और दूसरा है 'मदीयं' से लेकर 'निवेदितमस्तु' तक। पहला भाग सविकल्प समाधि की और दूसरा निर्विकल्प

समाधि की प्राप्ति का द्योतक है। पूर्ववाक्य से ज्ञान का और अपरवाक्य से ज्ञाता का लय होता है।

(ख) देवतोद्वासन वा देवता-विसर्ज्जन—सहजस्थिति वा सहजावस्था में, जो शिवशक्ति सामरस्य वा अद्वैतावस्थान है, विमर्शवृत्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसका भी स्वतः लय हो जाता है। विमर्श का लय ही देवतोद्वासन है। कारण तत्वज्ञानियों के हेतु चित्‌शक्ति से विमर्शशक्ति भिन्न नहीं है। विमर्श को पदार्थभावना भी कहते हैं, जो ज्ञान की छठी भूमिका है। इस भेद के अनुपलम्भन से ही ज्ञान की अन्तिम सप्तम भूमिका तुर्यगा की प्राप्ति होती है। सभी आवरण-देवताओं का जो कर्म, भक्ति, वैराग्य, गुरूपसदन, लय, मन्त्र, हठयोगत्रय इत्यादि श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्योतक हैं, चित्‌शक्ति वा देवता में लय होता है। और यह परदेवता भी महाप्रकाश के रूप में परिणत हो जाता है। यह महाप्रकाश मन और वचन के अगोचर है।

पद्धति कहती है कि आवरणदेवताओं का परदेवता में लय करके परदेवता को संहारमुद्रा-द्वारा हृदय में उद्वासित करे। हृदय को दहराकाश वा अन्तराकाश भी कहते हैं। इसी स्थान में चित्‌शक्ति वा परमात्मा नित्य रहता है। यहीं से वह यन्त्र पर लाया गया था। अतएव पूजा के पश्चात् वहीं पर उसको रखना है।

(ग) शान्तिस्तव—शान्ति का अर्थ है नित्यतृप्ति। यह तभी होती है जब सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। आत्मज्ञानी ही केवल इच्छासिद्धि प्राप्त करता है। वही एक कृतकृत्य है। उसको कुछ करना नहीं है। अतएव उसकी न

प्रवृत्ति है, न निवृत्ति है। उसको जीवन्मुक्त कहते हैं, जो करुणा का सागर है। वह दूसरों के निमित्त ही संसार में रहता हुआ भी रहता है। ऐसा ज्ञानी स्वाभाविक करुणावशात् संसार के समस्त, विशेषतः पथभ्रष्ट जीवों के कल्याण के निमित्त, शान्ति-स्तव का पाठ करता है वा "लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु" ऐसी प्रार्थना करता

इति गदितविशिष्टं कालिकोपास्ति तत्वं
गुरुचरणसुचिन्ता जातमेतत् फलं ॥ ॥

हरतु सकल पुंसां पाप्मनो लेशलेशम्
यदि भवति च किञ्चिद् धन्यतां यामि लोके ॥ १ ॥
नवदर्शनविज्ञानं शब्दे च निपुणा मतिः।
नैव तार्किकबुद्धिश्च गुरुरत्र गतिप्रदः ॥ २ ॥

किम्वा लिखामि तव पूजन-तत्वगूढं
वेदोऽप्यलं कथयितुं न विमुग्धबुद्ध्या।
मातस्तवास्ति करुणामृतवाग्विलासः
किञ्चिन्न चास्ति सुतरां स्फुरणम्मदीयम् ॥ १ ॥

वेदेषु नो मम गतिर्न च दर्शनेषु
नो शब्दशास्त्रविषयेषु तथागमेषु।
साहित्यशास्त्रमपि नैव सुपाठितोऽहम्
यद् यन्त्रवत् खलु विभो परिचालितोऽहम् ॥ २ ॥

जानामि देवि तव पादविभूतिमेतां
यल्लाभकारणमहो नु गुरोः कृपा वै।
वाश्चर्य्यमत्र भवतीति तव प्रसादान्
मूर्खोऽपि काव्यरचनां सकलां करोति ॥ ३ ॥

प्रकाशशक्तेर्निजबिम्बरूपां
विमर्शशक्तिं करुणानिसर्गाम् ।
नमामि भूयो मनसा वचोभिः
जगच्छुभार्थं पुनरेव चादृक् ॥ ४ ॥

आनन्ददात्री स्वयमेव भोक्त्री लीलामयी या करुणार्द्रचित्ता ॥
कालीति नाम्ना जगति प्रसिद्धा प्रीताऽस्तु पुत्रस्य सुवलालेन ॥ ५ ॥

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"—श्रुतिः

श्यामानन्दस्तु नाम्ना यो 'महेश'-कुलसम्भवः ।
लिखितं तेन 'भाषायां' काल्युपास्ति सुतत्वकम् ॥

मुद्रक--पन्ना प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद

श्री श्यामा पूजा-पद्धति

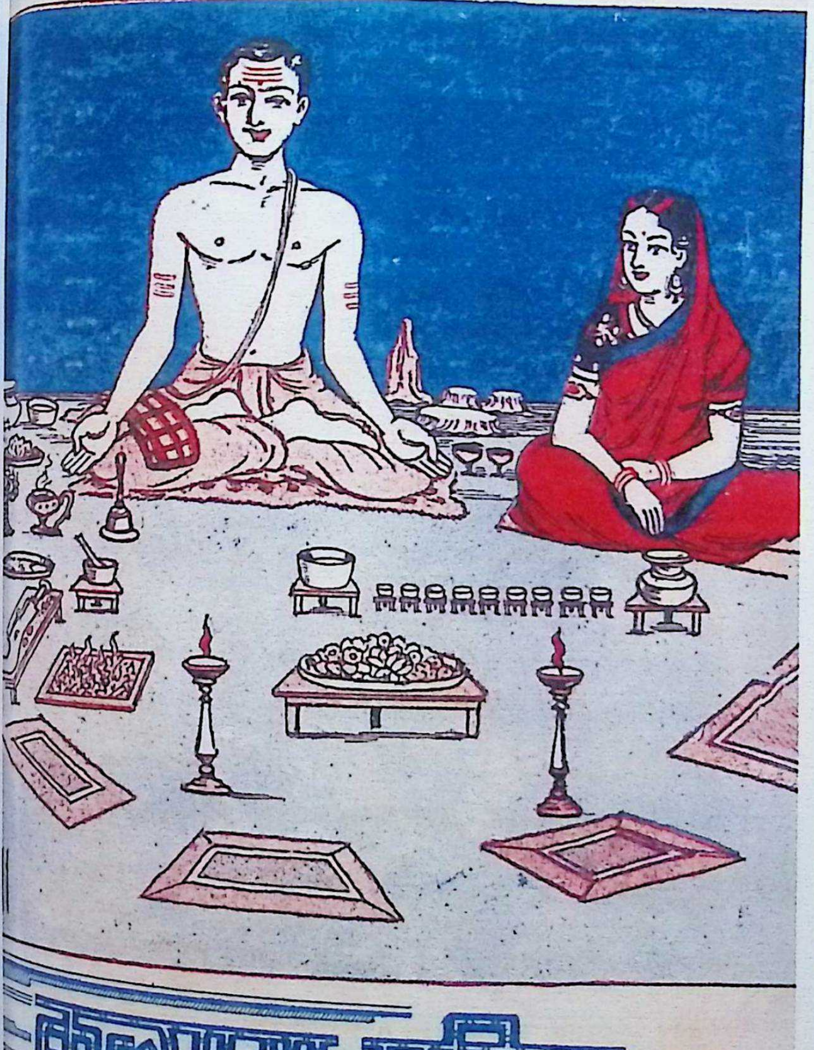

साधनमाला-चतुर्थ वर्ष—३-४ मणि

श्री श्यामा पूजा-पद्धति

लेखक

श्री रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

प्रकाशक

कल्याण मन्दिर, कटरा, प्रयाग—६

कालो [illegible] [illegible], [illegible]याग—६

प्रथम संस्करण] आषाढ़ पूर्णिमा २०११ [मूल्य ३), सजि० ३॥)

विषय-सूची

प्रातःकृत्य ... १-३
श्री गुरुपूजा ... १
कुण्डलिनी का ध्यान २
स्नान और सन्ध्यावन्दन ४-७
स्नान ... ४
सन्ध्यावन्दन ... ५
नित्य-पूजा ... ८
द्वार-पूजा ... ८
विघ्नोत्सारण ... ६
भूमिशोधन ... ६
आसनशोधन ... १०
विजया स्वीकार ... १०
गुरु आदि को नमस्कार ११
सामान्यार्घ्यस्थापन ... ११
पूजासामग्रीस्थापनादि १२
विघ्नोत्सारण ... १३
प्राणायाम ... १३
भूतशुद्धि ... १४
जीवन्यास - प्राणप्रतिष्ठा १५
देहादि शोधन ... १६
आत्मरक्षा ... १६
शक्तिपूजा ... १६
मूलमन्त्र का विनियोगादि १६
वर्णन्यास ... १७
सृष्टिमातृकान्यास ... १८
श्रीकण्ठमातृकान्यास ... २१
षोढान्यास ... २३
तत्त्वन्यास ... २३
वीजन्यास ... २४
व्यापकन्यास ... २४
अन्तर्यजन ... २४
वाह्यपूजा ... २७
पीठन्यास ... २७
ध्यान और आवाहन ... २८
पीठपूजा ... ३०
कलश-स्थापन ... ३१
आनन्दभैरव का ध्यान ३२
आनन्दभैरवी का ध्यान ३३
शङ्खपात्र ... ३४
विशेषार्घ्यपात्र ... ३४
मांस-शोधन ... ३७
मीनशोधन ... ३७
मुद्राशोधन ... ३७
पञ्चमशोधन ... ३७
गुरुपात्रादि का स्थापन ४२
गुरु आदि का तर्पण ... ४५
तत्त्वशुद्धि ... ४६
विन्दु-स्वीकार ... ४७

पञ्चबलि ... ४८
इष्टदेवता का आवाहन
और संस्कार ... ५०
आवाहन ... ५०
प्राणप्रतिष्ठा ... ५१
अवगुण्ठन ... ५१
सकलीकरण ... ५१
परमीकरण ... ५१
अमृतीकरण ... ५२
स्वागत और आसन ... ५२
मुद्राप्रदर्शन ... ५२
षोडशोपचार पूजन ... ५६
आवरण पूजन ... ६१
नीराजन ... ६६
मण्डल पूजन ... ७२
विसर्जन ... ७३

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	११	पुरुषायै	पुरुषाय	२२	२५	पञ्चयुक्तं	पञ्चवक्त्रं
१६	१५	रक्षार्थ	धर्मार्थ	३३	१३	हेम	हिम
२१	१७	लूं	लूं हर	३७	२४	स्रजा	स्रजौ
२१	२४	महाशील	महाशैल	४१	१	कुल	अकुल
२२	२३	द्विरंडश	द्विरंडेश	४८	२४	वा	वा वने वा
२४	१	जीव	वीज	५२	१६	अमिता	मिता
३०	९	मुनेभ्यः	मुनिभ्यः	५५	२२	खर्परे	खर्पर

पृष्ठ १२ पर २४ वीं पंक्ति का पूरा मन्त्र—‘ॐ पुष्पकेतु राजार्हते शताय सम्यक्सम्बद्धाय ॐ पुष्पे पुष्पे महापुष्पे सुपुष्पे पुष्पसम्भवे । पुष्पचयावकीर्णे हुँ फट् स्वाहा ।’

श्री श्यामा-पूजा-यन्त्र

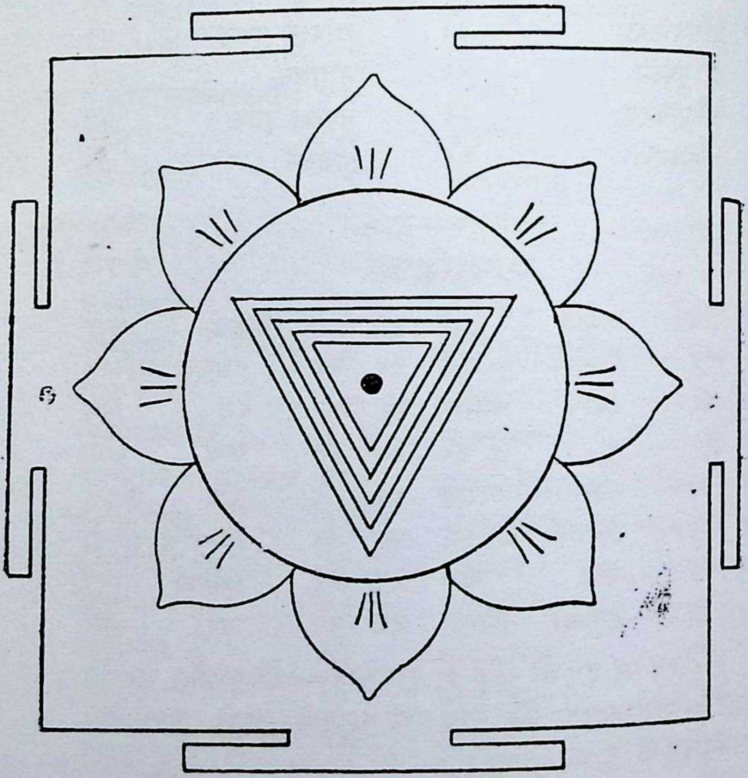

भगवती कालिका

भूमिका

जगज्जननी श्री काली जी की उपासना का भारत की पुण्यभूमि में व्यापक प्रचार है। कालिका, श्यामा, आद्या आदि इन्हीं के विशिष्ट लोकप्रिय नाम हैं। तन्त्रों में इनकी पूजा का विशेष प्रकार बताया गया है। उनके अतिरिक्त अनेक निबन्ध पुस्तकों में इनके विषय का विशेष वर्णन देखने को मिलता है। इन पुस्तकों में स्वामी पूर्णानन्द गिरि का 'श्यामा रहस्य' अधिक प्रसिद्ध है। इस पूजा-पद्धति का एकमात्र आधार यही निबन्ध है।

श्री काली जी के, अनेक भेद हैं, जिनमें दक्षिणाकालिका, भद्रकाली, श्मशानकाली, गुह्यकाली और महाकाली मुख्य हैं। माता के इन भेदों का पूजा प्रकार तो एक ही है किन्तु मन्त्र, ध्यान तथा न्यासादि में अवश्य विशेष अन्तर पाया जाता है। अतएव किसी भी मूर्ति के साधक इस पूजा-पद्धति का सरलता से प्रयोग कर सकते हैं केवल 'दक्षिणा-कालिका' के स्थान पर अपनी-अपनी इष्टमूर्ति के नाम, ध्यान, न्यासादि का उपयोग करने की जरूरत है। इस पुस्तक में दक्षिणाकालिका को ही आधार मानकर पूजा-पद्धति तैयार की गई है। 'श्यामा-रहस्य' में भी ऐसा ही है।

श्री दक्षिणाकालिका का प्रसिद्ध बाइस अक्षर का मन्त्र 'श्यामा-रहस्य' में इस प्रकार दिया गया है—

क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं दक्षिणे कालिके क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा।

यह मन्त्र अधिक प्रसिद्ध है और प्रायः गुरु लोग इसी मन्त्र की दीक्षा अपने शिष्यों को देते हैं। इस मन्त्र का अर्थ यामल में इस प्रकार दिया है कि जलरूपी ककार मोक्षप्रद, तीनों अग्निरूपी रेफ सर्वतेजोमय, 'क्रीं' ये तीनों बीज सृष्टि-स्थिति-संहारकारी

हैं, इनका विन्दु निष्कल स्वरूप है अतएव ये कैवल्यदायक हैं। 'हूं' ये दोनों बीज शब्दज्ञानप्रद, 'हीं' ये दोनों सृष्टि-स्थित्यन्तकारी और 'दक्षिणे कालिके' यह सम्बोधन पद देवी का सान्निध्यकारी है। 'स्वाहा' जगत् का मातृस्वरूप और सर्व-पापहारक है।

इस मन्त्र के पुरश्चरण की जपसंख्या एक लक्ष है। जप का दशांश होम, उसका दशांश तर्पण, उसका दशांश अभिषेक और उसका दशांश ब्राह्मण भोजन कराने से मन्त्र सिद्ध होता है। जिस जिस कर्म के करने में असमर्थ हो, उसका दूना मन्त्रजप करना चाहिये।

श्री काली जो के एकाक्षर से लेकर बहुसंख्यक वर्णों के मन्त्र तन्त्रों में मिलते हैं। उनकी साधन-प्रक्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं परन्तु यहाँ प्रसिद्ध मन्त्र का ही हमने उल्लेख किया है। इस मन्त्र की साधना-प्रणालो की विशेषताएँ श्री गुरुमुख से जानी जा सकती हैं।

इस पुस्तक के शुद्ध करने का कष्ट पूज्य चरण श्री १०८ स्वामी अक्षोभ्यानन्द सरस्वती जी महाराज ने किया है। आप कौल धर्म के आचार्य हैं। उनके संशोधनों से यह पुस्तक अधिक प्रामाणिक हो गई है। इसके लिये हम आपके विशेष रूप से कृतज्ञ हैं।

इस पुस्तक के तैयार करने में हमें मित्रवर श्री चन्द्रनाथ जी योगेश्वर से बड़ी सहायता मिली है। यदि तत्परता के साथ इसके लिखने में उन्होंने आवश्यक परिश्रम न किया होता तो कदाचित् यह पुस्तक लिखी हो न जाती। अतएव हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं।

—रमादत्त शुक्ल

श्री श्यामा पूजा पद्धति—

सादर समर्पण

श्री वनमाली हरगोविन्द पण्ड्या
श्री आद्या भुवन, कांदिवली, बम्बई

आदरणीय पण्ड्या जी,

आपने 'श्यामा-रहस्य' की जो प्रति कृपापूर्वक मुझे अध्ययन करने को प्रदान की थी, उसका फल इस पुस्तक रूप में प्रकट हुआ है। उसे मैं श्रीमान् के कर-कमलों में समर्पित करता हूँ।

—लेखक

श्री श्यामा पूजा-पद्धति

प्रातःकृत्य

श्री गुरुपूजा—साधक ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा त्याग अपनी शुद्ध शय्या पर पद्मासन से बैठकर प्रसन्न हो सहस्रार की कर्णिका में श्री गुरुदेव का ध्यान करे। यथा—

शुद्धस्फटिकसंकाशं शुद्धक्षौमविराजितम्।
गन्धानुलेपनं शान्तं वराभयकराम्बुजम्॥
मन्दस्मितं निजगुरुं कारुण्येनावलोकिनम्।
वामोरुशक्तिसंयुक्तं शुक्लाभरणभूषितम्॥
स्वशक्त्या दत्तहस्तेन धृतचारुकलेवरम्।
वामे धृतोत्पलायाश्च सुरक्तायाः सुशोभनम्॥
परानन्दरसोल्लासलोचनद्वयपंकजम्।

इस प्रकार श्री गुरुदेव का ध्यान कर उनकी पादुकाओं का पाँच मानसोपचारों से पूजन करे। यथा—

लं पृथिव्यात्मकं गंधं समर्पयामि—अधोमुख अंगुष्ठ, कनिष्ठा के योग से।

हं आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि—अधोमुख अंगुष्ठ-तर्जनी के योग से।

यं वाय्वात्मकं धूपं समर्पयामि—ऊर्ध्वमुख अंगुष्ठ-तर्जनी के योग से।

रं वह्न्यात्मकं दीपं समर्पयामि—ऊर्ध्वमुख अँगुष्ठ-मध्यमा के योग से।

वं अमृतात्मकं नैवेद्यं समर्पयामि—ऊर्ध्वमुख अंगुष्ठ-अनामिका के योग से।

सं सर्वतत्त्वात्मकं ताम्बूलं समर्पयामि—ऊर्ध्वमुख पाँचों अँगुलियों के योग से।

इस प्रकार मानसिक पूजनकर गुरुपादुका मन्त्र का दस बार जप करे। जपफल गुरुदेव के दाहिने हाथ में अर्पित कर उनकी हाथ जोड़कर स्तुति करे। यथा—

(ॐ) अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

कुंडलिनी का ध्यान—गुरुदेव की आज्ञा लेकर सुवर्ण रंग के चार दल के मूलाधार चक्र की कर्णिका के त्रिकोण में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन फेरे से लपेटे हुए इष्टदेवता-स्वरूपा भुजगाकारा कमलनाल के तन्तु जैसी सूक्ष्म विद्युत् प्रभायुक्त कुण्डलिनी देवी को 'हुं हंसः' मन्त्र से जागृत कर सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से सहस्रार में ले जाकर वहाँ परम-शिव से संयुक्त कर कुण्डलिनी और कुलगुरुओं का ध्यान करे। यथा—

मूलाधारे स्मरेद्दिव्यं त्रिकोणं तेजसां निधिम्।
तस्याग्निरेखामानीय अध ऊर्ध्वं व्यवस्थिताम्॥
'नीलतोयदमध्यस्थतडिल्लेखेव भासुरम्।
नीवारशूकतन्वीश्च सुपीतां भास्करोपमाम्॥
तस्याः शिखाया मध्ये च परमोर्ध्वं व्यवस्थिताम्।
स ब्रह्मा स स्वरः शान्तः स शिवः परमस्वराट्॥
स एव विष्णुः स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमाः।'

इसके बाद कुलगुरुओं का ध्यान करे। यथा—

प्रह्लादानन्दनाथाख्यं सकलानन्दमेव च।
कुमारानन्दनाथाख्यं वशिष्ठानन्दनाथकम्॥
क्रोधानंदसुखानंदौ ध्यानानंदं ततः परम्।
बोधानंदं ततश्चैव ध्यायेत् कुलमुखोपरि॥
महारसरसोल्लासहृदयाघूर्णलोचनाः।
कुलालिङ्गनसंभिन्ना घूर्णिताशेषमानसाः॥
कुलशिष्टैः परिवृत्ताः पूर्णान्तःकरणोद्यताः।
वराभययुताः सर्वे कुलतंत्रार्थवादिनः।

सहस्रार की कर्णिका में स्वगुरुदेव के साथ इन आठ कुल-गुरुओं का यथारूप ध्यान कर चुकने पर भगवती कुण्डलिनी को उसी मार्ग से लाकर मूलाधार चक्र में उसे यथा स्थान स्थापित करे।

इस प्रकार कुंडलिनी का ध्यान कर चुकने पर साधक अपने आपको ब्रह्मरूप समझे। यथा—

प्रकाशमानां प्रथमे प्रयाणे प्रतिप्रयाणेऽप्यमृतायमानाम्।
अन्तः पदव्यामनुसंचरन्तीमानन्दरूपामबलां प्रपद्ये॥
अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहमात्मानमिति भावयेत्॥

इस प्रकार ब्रह्मभाव में भर साधक संसार-यात्रा के लिये शय्या का त्याग करे।

स्नान और संध्यावन्दन

स्नान—स्नान के लिये साधक जलाशय आदि के पास जाकर पहले अनामा और तर्जनी में सोने या चाँदी की अँगूठियाँ पहन कर आचमन करे। फिर मूलमन्त्र का स्मरण कर अपने आपको पाप-विमुक्त समझ कर पुनः आचमन करे। तदनन्तर हाथ में जल लेकर स्नान के लिये संकल्प करे। संकल्प की वाक्यावली के अंत में—'कुलदेवताप्रीतिकामो मन्त्र-स्नानमहं करिष्ये'—यह वाक्य जोड़ ले। फिर जलाशय के जल में त्रिकोण बनाकर उसमें सूर्यमण्डल से अंकुशमुद्रा द्वारा मन्त्र पढ़कर तीर्थों का आवाहन करे। यथा—

ॐ गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

इस प्रकार त्रिकोण के जल में तीर्थों का आवाहन कर साधक मूलमन्त्र का स्मरण कर निम्न मन्त्रों से आचमन करे। यथा—

ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा, ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा, ॐ शिव-तत्त्वाय स्वाहा।

इस प्रकार तीन बार आचमन कर अपने ऊपर तीन बार पानी छिड़के। फिर मूलमंत्र का स्मरण कर जलाशय की मिट्टी लेकर उसका अपने अङ्गों में लेपन करे। फिर मूलमन्त्र पढ़ता हुआ कुम्भमुद्रा से उसी त्रिकोण का जल अपने सिर पर तीन बार छोड़कर अँगुलियों से कान, नाक आदि सातों छिद्र बन्द कर जल में तीन बार डुबकी लगावे।

इस प्रकार स्नान कर साधक जलाशय* से बाहर निकले।

सन्ध्या-वन्दन—सूखे वस्त्र पहनकर साधक सन्ध्या-वन्दन करे। वह मंत्र से शिखा में गाँठ लगावे। यथा—

ॐ मानध्वनि वज्रिणि महाप्रतिसरे रक्ष रक्ष हुँ फट् स्वाहा।

इसके बाद मूलमंत्र पढ़कर मस्तक आदि स्थानों में भस्म लगावे। फिर 'ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा, ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा, ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा' इन मन्त्रों से तीन बार आचमन करे।

इसके बाद षडङ्गन्यास करे। यथा—क्रां हृदयाय नमः, क्रीं शिरसे स्वाहा। क्रूं शिखायै वषट्, क्रैं कवचाय हुँ। क्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्, क्रः अस्त्राय फट्।

अब साधक बायें हाथ में जल लेवे। उसको दाहिने हाथ से ढँककर 'हं यं वं लं रं'—यह मन्त्र तीन बार पढ़कर उस जल को अभिमंत्रित करे। इसके बाद दाहिने हाथ की तत्त्वमुद्रा से बायें हाथ के टपकते हुए जल से मूलमंत्र पढ़ता हुआ अपने शिर के ऊपर सात बार अभिषिंचन करे। तदनंतर बायें हाथ की हथेली का जल अपने दाहिने हाथ की हथेली में ले लेवे। फिर उस जल को तेजरूप में ध्यान कर साधक यह समझे कि उसने उस जल को बायें नथुने से अपने भीतर खींच लिया है और उससे अपने अन्तर के पाप को धोया है, जिससे वह जल काले रङ्ग का हो गया। अब वह यह समझे कि काले रंग का

* यदि किसी जलाशय में स्नान न करना हो तो साधक एक लोटे में जल लेकर उसका संस्कार करे। फिर उस जल को एक बाल्टी भरे जल में मिलाकर विधिपूर्वक स्नान करे।

जल उसके दाहिने नथुने से उसके दाहिने हाथ की हथेली में आ गया है। अब वह यह समझे कि उसके सामने एक वज्र की शिला है। उसी शिला पर दाहिने हाथ में आये हुये काले रंग का जल 'फट्' मन्त्र पढ़कर उस जल को वज्रशिला पर पटक दे।

इसके बाद हाथ धोकर आचमन करे। फिर पूजा के जल में अपने इष्टदेवता के यंत्र का ध्यान करे और उसमें आवरणों के सहित इष्टदेवता का अपने हृदय से आवाहन करे। यथा—

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इहागच्छ इहागच्छ।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह तिष्ठ इह तिष्ठ।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सन्निधेहि इह सन्निधेहि।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सन्निरुद्धस्व इह सन्निरुद्धस्व।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सम्मुखीभव इह सम्मुखीभव।

तदनन्तर एक दूसरे पात्र में निम्न मन्त्रों से उस जल द्वारा तीन-तीन बार तर्पण करे—

ऐं गुरु श्री अमुकानन्दनाथ भैरव तच्छक्त्यम्बा तृप्यताम्—ईशान कोण में,
ऐं परमगुरु श्री ,, ,, ,, ,,—आग्नेय कोण में,
ऐं परापरगुरु श्री ,, ,, ,, ,,—नैर्ऋत्य कोण में,
ऐं परमेष्ठिगुरु श्री ,, ,, ,, ,,—वायव्य कोण में,
श्री दक्षिणाकालिका देवता तृप्यताम्—मध्य में।

इष्टदेवता का तर्पण कर चुकने पर उसी स्थान में प्रत्येक आवरण देवता को एक-एक अंजलि जल प्रदान करे।

यदि समयाभाव हो तो गुरुओं के तर्पण के बाद आगे के मन्त्र से तीन बार केवल इष्टदेवता का तर्पण करे। यथा—

मू ँ सायुधा, सपरिवारा, सवाहना, महाकालसहिता श्रीदक्षिणा-कालिका माता तृप्यताम् ।

इसके बाद अपने पितरों का तर्पण करे। यथा—अस्मत् पिता महाकालस्वरूपः अमुकः तृप्यताम् । एवं पितामह प्र-पितामह इत्यादि ।

तदनन्तर एक पात्र में जल ले और उसमें दूर्वा, अक्षत, रक्तपुष्पादि छोड़कर खड़े होकर सूर्य देवता को निम्न मन्त्र से अर्घ्य प्रदान करे। यथा—

ह्रीं हंसः मार्तण्डभैरवाय प्रकाशशक्तिसहिताय इदमर्घ्यं स्वाहा ।

इसके बाद पात्र में पुनः जल भर कर दूर्वा, अक्षत, बिल्व-पत्र, जवापुष्प आदि उसमें छोड़कर सूर्यमण्डल में इष्टदेवता के स्वरूप का ध्यान करता हुआ निम्न मंत्र पढ़कर उन्हें तीन बार अर्घ्य प्रदान करे।

देवीगायत्रीमहाकालसहितायै श्रीमद्दक्षिणकालिकायै इदमर्घ्यं स्वाहा ।

इसके बाद देवी गायत्री का यथाशक्ति जप करे और जप-फल देवी को समर्पित कर दे। गायत्री मन्त्र—

ॐ क्रीं कालिकायै विद्महे श्मशानवासिन्यै धीमहि तन्नो घोरे प्रचोदयात् ।

नित्य-पूजा

द्वारपूजा—साधक शुद्धवस्त्र पहिनकर पूजा-गृह के द्वार पर जाय। 'ॐ वज्रोदके हुँ फट् स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़कर बायें हाथ में जल लेकर आसन पर छिड़ककर उस पर बैठे और 'ॐ ह्रीं विशुद्धयै सर्वपापानि शमय अशेषविकल्पमपनय हुँ फट् स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़कर जल से पैर धोवे। इसके बाद तीन बार आचमन करे। यथा—'ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा, ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा, ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।' इसके बाद अपनी बाईं ओर सामान्यार्घ्य पात्र की स्थापना करे। यथा—भूमि पर त्रिकोण-वृत्त बनावे। उस पर जल से 'ॐ आधारशक्त्यै नमः'—यह मन्त्र पढ़कर आधारशक्ति की पूजा करे। फिर आधार और पात्र को 'फट्' मन्त्र से धोकर उन्हें उस मण्डल पर स्थापित करे और 'गंधाद्यतम् समर्पयामि नमः' मन्त्र पढ़कर उनकी पूजा करे। फिर पात्र में 'ह्रीं' मंत्र से जल भर कर अंकुश मुद्रा से उस जल में निम्न मन्त्र पढ़कर सूर्यमण्डल से तीर्थों का आवाहन करे। यथा—

ॐ गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

फिर 'ॐ' मंत्र पढ़कर उस जल में गन्ध, पुष्प और अक्षत छोड़े। फिर उस पात्र पर धेनुमुद्रा दिखाकर उस जल को अमृतमय करे। उस जल के ऊपर 'ॐ' का दस बार जप करे। तदनन्तर इसी पात्र के जल से द्वार के देवताओं का पूजन करे। यथा—पहले द्वार पर जल छिड़के। फिर सिर के ऊपर

'गां गणपतये नमः गंधाक्षतम् समर्पयामि' से गणेश की, बाईं बाजू में 'क्षां क्षेत्रपालाय नमः' से क्षेत्रपाल की, दाहिने बाजू में 'बां बटुकाय नमः' से बटुक की और देहरी पर 'यां योगिनीभ्यो नमः' से योगिनियों की पूजा करे। फिर सिर के ऊपर 'गां गङ्गायै नमः' से गङ्गा की, बाईं बाजू में 'यां यमुनायै नमः' से यमुना की, दाहिनी बाजू में 'श्रीं लक्ष्म्यै नमः' से लक्ष्मी की और देहरी पर 'एं सरस्वत्यै नमः' से सरस्वती की पूजा करे।

विघ्नोत्सारण—इस प्रकार द्वार-देवताओं का पूजन कर साधक आसन और सामान्यार्घ्य-पात्र लेकर बायाँ पैर बढ़ाकर पूजागृह में प्रवेश करे। वहाँ वह गृह के नैर्ऋत्यकोण में 'ॐ ब्रह्मणे नमः' से ब्रह्मा की और 'ॐ वास्तुपुरुषायै नमः' से वास्तुपुरुष की पूजा गन्ध पुष्प से करे। फिर वह हाथ में अक्षत, सरसों, तिल लेकर निम्न मन्त्र पढ़कर पूजागृह से विघ्नों को दूर करे।

'ॐ सर्वविघ्नान् उत्सारय हुँ हुँ फट् स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़कर हाथ के अक्षत आदि पूजा-गृह में चारों ओर फेंककर नाराच-मुद्रा दिखावे और यह समझे कि पूजागृह विघ्नरहित हो गया है।

भूमिशोधन—अब साधक 'ॐ पवित्रवज्रभूमे हुँ हुँ फट् स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़ता हुआ पूजा के स्थान में हाथ रखकर उसे अभिमन्त्रित करे। फिर वह उस स्थान में त्रिकोण का मण्डल बनाकर उसमें 'ॐ आधारशक्त्यादिभ्यो नमः' से आधार-शक्तियों की गंध, पुष्प से पूजा करे। फिर वह उस पर आसन बिछाकर और हाथ जोड़कर यह विनियोग पढ़े—

ॐ पृथ्वीति मन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः सुतलं छन्दः कूर्मो देवता आसनोपवेशने विनियोगः।

आसन-शोधन—साधक आसन के ऊपर अपना हाथ रखकर निम्न मन्त्र पढ़े—

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वं च धारय माम् नित्यं पवित्रं कुरु चासनम् ॥

यह मन्त्र पढ़कर वह आसन पर तीन कुशा रखकर 'ह्रीं आधारशक्तये कमलासनाय नमः' से उसका पूजन करे और 'आः सुरेखे वज्ररेखे हुँ फट् स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़ता हुआ उस पर त्रिकोण का मण्डल बनावे। फिर वह उस पर वीरासन से बैठ जाय।

विजया-स्वीकार—अब साधक विजया का शोधन करे। वह विजया का पात्र अपने सम्मुख आधार पर रख उसे हाथ से ढँक नीचे लिखे मंत्र पढ़ता हुआ उसका शोधन करे—

संविदे ब्रह्मसम्भूते ब्रह्मपुत्रि सदानघे ।
भैरवाणां च तृप्त्यर्थं पवित्रा भव सर्वदा ॥
(ॐ ब्राह्मण्यै नमः स्वाहा)

सिद्धिमूले प्रिये ! देवि ! हीनबोधप्रबोधिनि ।
राजप्रजावशंकरि शत्रुकण्ठत्रिशूलिनि ॥
(ऐं क्षत्रियायै नमः स्वाहा)

अज्ञानेन्धनदीप्ताग्ने ज्वालाग्ने ज्ञानरूपिणि ।
आनन्दस्याहुतिं प्रीतिं सम्यग्ज्ञानं प्रयच्छ मे ॥
(ह्रीं वैश्यायै नमः स्वाहा)

नमस्यामि नमस्यामि योगमार्गप्रबोधिनि ।
त्रैलोक्यविजये मातः समाधिफलदा भव ॥
(ह्रीं शूद्रायै नमः स्वाहा)

इसके बाद पात्र के ऊपर धेनुमुद्रा दिखाकर उस पर चार बार निम्न मन्त्र पढ़कर संविद को अमृतमय करे।

ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतमाकर्षय आकर्षय सिद्धि देहि अमुकं मे वशमानय स्वाहा।

इसके बाद पात्र के ऊपर मूलमंत्र का तीन बार जप करे। तदनन्तर संविद को आवाहनादि पाँच मुद्रायें एवं धेनु और योनिमुद्रायें दिखाये और अपने सिर के ऊपर चारों ओर दस बार चुटकी बजाकर दिग्बन्धन करे। फिर अपने सामने तीन बार फट्कार करे और अपने चारों ओर दिव्य-दृष्टि से देखे एवं बाईं एँड़ी से भूमि पर तीन बार आघात करे। इस प्रकार अन्तरिक्ष के, पूजा स्थान के तथा भूमि के विघ्नों का निवारण करे।

इसके बाद सहस्रार की कर्णिका में तत्त्व-मुद्रा द्वारा परम-शिव का सात बार तर्पण करे। फिर सात बार मूलमन्त्र का जप करे और तीन बार इष्टदेवता का हृदयकमल में तर्पण करे। तदनन्तर 'ऐं वद वद वाग्वादिनि मम जिह्वाग्रे स्थिरा भव सर्वसत्ववशङ्करी स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़कर संविद का पान करे।

गुरु आदि को नमस्कार—अब साधक बायें कान के ऊपर 'अमुकानन्दनाथ श्री भैरव गुरुपादुकाभ्यो नमः'—यह वाक्य पढ़कर हाथ जोड़कर गुरु की पादुकाओं को नमस्कार करे। फिर दाहिने कान के ऊपर 'गां गणपतये नमः'—इस वाक्य से गणेश को नमस्कार करे। फिर हृदयकमल में 'क्रीं श्री दक्षिणकालिकायै नमः' से इष्टदेवता को नमस्कार करे।

सामान्यार्घ्य-स्थापन—यदि साधक ने पूजागृह के बाहर सामान्यार्घ्य न स्थापित किया हो तो यहाँ उसे स्थापित

करे। यथा—साधक आसन से कुछ हटकर अपनी दाहिनी ओर भूमि पर रक्त चन्दन से त्रिकोण वृत्त का एक मण्डल बनावे। फिर उसमें वह 'ॐ ह्रीं आधारशक्त्यै नमः' से गंध, अक्षत, पुष्प चढ़ाकर आधारशक्ति का पूजन करे। फिर वह आधार लेकर 'फट्' मंत्र से धोकर मंडल पर स्थापित करे और उसकी 'ॐ सामान्यार्घ्यपात्राधाराय नमः' से गंधाक्षत-पुष्प द्वारा पूजा करे। फिर एक पात्र लेकर 'फट्' मन्त्र से धोकर उसे आधार पर स्थापित करे। फिर गंधाक्षत-पुष्प छोड़कर 'ॐ सामान्यार्घ्यपात्राय नमः' से उसका पूजन करे। फिर उसमें 'ह्रीं' मंत्र पढ़ता हुआ जल भरे। फिर अंकुश मुद्रा द्वारा उस जल में निम्न मंत्र पढ़ता हुआ सूयमण्डल से तीर्थों का आवाहन करे—

ॐ गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेस्मिन् सन्निधिम् कुरु॥

फिर 'ॐ गंधाक्षतपुष्पं समर्पयामि' से उसमें गंध, अक्षत और पुष्प छोड़े। फिर उस जल में धेनुमुद्रा दिखाकर उसे अमृतमय करे। फिर उस पर 'ॐ' का दस बार जप करे।

अब अर्घ्य-पात्र का जल लेकर अपने अगल-बगल और सामने छिड़के। फिर वह पुष्प अक्षत आदि पूजा सामग्री अपनी दाहिनी ओर स्थापित करे, बाईं ओर सुगन्ध जलादि स्थापित करे और देवता के पृष्ठ भाग में देवता सम्बन्धी वस्तुयें रक्खे।

पूजा-सामग्री-स्थापन, शोधन आदि—'ॐ शताभिषेक ॐ शताभिषेक हुँ फट् स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़कर पुष्पों को पात्र में रक्खे। फिर 'ॐ पुष्पकेतु राजार्हते शताय सम्यक्सम्बद्धाय'—यह मन्त्र पढ़कर पुष्पों को अभिमन्त्रित करे। फिर मूलमन्त्र के

अन्त में 'फट्' जोड़कर उसे पढ़ता हुआ सामान्यार्घ्य का जल पूजा-सामग्री पर छिड़के और धेनुमुद्रा दिखाकर सबको अमृत-मय करे।

विघ्नोत्सारण--अब साधक विघ्नों का पुन: निवारण करे। वह बायें पैर की एँड़ी से भूमि पर 'फट् फट् फट्' कह कर आघात करे। फिर तर्जनी और मध्यमा से बायें हाथ की हथेली पर अपने सम्मुख ऊपर की ओर तीन बार फट्कार करे। फिर अपने चारों ओर बिना पलक मारे दिव्य दृष्टि से देखे। इस प्रकार वह भूमि के, अन्तरिक्ष के और पूजा-स्थान के विघ्नों को दूर करे। फिर वह अपने सिर के चारों ओर दस बार चुटकियाँ बजाकर दसों दिशाओं का बंधन करे। इसके बाद 'रं' बीज का स्मरण कर वह यह समझे कि उसके चारों ओर अग्नि की दीवार खिची हुई है और वह पूर्णरूप से सुरक्षित है।

प्राणायाम—अब साधक सामान्यार्घ्य का जल मूलमन्त्र पढ़कर अपने ऊपर छिड़क कर प्राणायाम करे। वह दाहने अँगूठे से दाहिनी नासा को बन्द कर सोलह बार 'ॐ' का जप करता हुआ बाईं नासा से धीरे-धीरे वायु खींचे। फिर अनामिका और कनिष्ठिका से उस नासा-द्वार को भी बन्द कर दे और चौंसठ बार 'ॐ' का जप करता हुआ भीतर वायु भरी रक्खे। फिर अँगूठा हटाकर दाहिनी नासा को खोल कर ३२ बार 'ॐ' का जप करता हुआ वायु को बाहर निकाल दे। अब वह बाईं नासा को अनामिका और कनिष्ठिका से बन्द रखकर १६ बार 'ॐ' का जप करता हुआ दाहिनी नासा से भीतर वायु भरे। फिर दाहिनी नासा को बंदकर ६४ बार 'ॐ' का जप करता हुआ भीतर वायु को भरा रक्खे। फिर बाईं

नासा को खोलकर ३२ बार 'ॐ' का जप करता हुआ वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। तीसरा प्राणायाम पहले की भाँति करे। इस प्रकार तीन बार प्राणायाम करे। इस क्रिया के करने से देह की शुद्धि होती है।

भूतशुद्धि—मूलाधार चक्र में स्वयम्भूलिंग को वेष्ठन करनेवाली, साँप जैसी, कमलनाल के तन्तु के समान पतली, विजलियों के समूह के तेजवाली कुण्डलिनी शक्ति को 'हंसः' मन्त्र सहित पृथ्वीतल के साथ स्वाधिष्ठान चक्र में ले आवे। यहाँ यह समझे कि पृथ्वीतत्त्व जलतत्त्व में लय हो गया है। तब जलतत्त्व के साथ कुण्डलिनी को मणिपूर चक्र में ले जाय। यहाँ यह समझे कि जलतत्त्व अग्नितत्त्व में लय हो गया है। यहाँ से अग्नितत्त्व के साथ कुण्डलिनी को अनाहत चक्र में ले जाय। यहाँ यह समझे कि अग्नितत्त्व वायुतत्त्व में लीन हो गया है। यहाँ से वायुतत्त्व के साथ कुंडलिनी और जीवात्मा को भी लेकर उन्हें विशुद्ध चक्र में ले जाय। यहाँ यह समझे कि वायुतत्त्व आकाशतत्त्व में लय हो गया। यहाँ से आकाशतत्त्व के साथ उन दोनों को आज्ञाचक्र में ले जाय। यहाँ यह समझे कि आकाशतत्त्व मन में लय हो गया है। फिर यहाँ से मन को नाद में और नाद को ध्वनि में लय करता हुआ उन दोनों को सहस्रार की कर्णिका के चन्द्रमण्डल के त्रिकोण के परम-शिवरूप विन्दु में ले जाकर उन्हें एकरूपता प्रदान कर वहाँ स्थापित कर दे। इसके बाद साधक प्राणायाम करे। वह धूम्रवर्ण के 'यं' वायुवीज का सोलह वार जप करता हुआ पूरक प्राणायाम करे। इस क्रिया से वह वाईं कोख में स्थित पाप पुरुष का अपने शरीर के साथ शोषण करे। फिर रक्तवर्ण के 'रं' अग्निवीज का ६४ वार जप करता हुआ पाप पुरुष को अपने

शरीर के साथ जला डाले। फिर शुक्लवर्ण के 'वं' वरुणवीज को ३२ बार जपता हुआ उससे झरित भावामृत से पाप-रहित अपने शरीर को पुनः उत्पन्न करे। फिर वह पीतवर्ण के 'लं' पृथ्वीवीज का ध्यान करता हुआ उस शरीर को सुदृढ़ बनावे। इसके बाद साधक 'सोहं' मन्त्र से कुंडलिनी शक्ति को सहस्रार से लाता हुआ प्रत्येक तत्त्व को अपने-अपने चक्र में स्थापित करता हुआ ब्रह्ममार्ग से उसे उसके स्थान में ले जाकर पहले की भांति उसे स्थापित कर दे। अर्थात् विन्दु से उसे ध्वनि में लावे, ध्वनि से नाद में, नाद से आज्ञाचक्र में, जहाँ मन को स्थापित करे, यहाँ से विशुद्धचक्र में, जहाँ आकाश-तत्त्व को स्थापित करे, यहाँ से अनाहत चक्र में, जहाँ वायुतत्त्व और जीवात्मा को स्थापित करे। यहाँ से मणिपूर में, जहाँ अग्नितत्त्व को स्थापित करे, यहाँ से स्वाधिष्ठान में, जहाँ जल-तत्त्व स्थापित करे, यहाँ से मूलाधार में, जहाँ पृथ्वीतत्त्व को स्थापित कर कुंडलिनी को उसके स्थान में स्थापित कर दे।

जीवन्यास अर्थात् प्राणप्रतिष्ठा—साधक अपने हृदय पर दाहिना हाथ रख कर मन्त्र पढ़ता हुआ जीवन्यास करे। यथा—

आं ह्रीं क्रों हंसः श्री दक्षिणकालिकायाः प्राणा इह प्राणा।
आं ह्रीं क्रों हसः श्री दक्षिणकालिकायाः जीव इह स्थितः।
आं ह्रीं क्रों हंसः श्री दक्षिणकालिकायाः सर्वेन्द्रियाणि।
आं ह्रीं क्रों हंसः श्री दक्षिणकालिकायाः वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्र-घ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।

इस मन्त्र को तीन बार कहता हुआ जीवन्यास करे और यह समझे कि उसके हृदयस्थ आत्मा में स्वयं जगदम्बा की स्थापना हो गई।

देह आदि का शोधन—इसके बाद साधक निम्न मन्त्र पढ़कर काय, वाक् और चित्त का शोधन करे। यथा—

'ॐ आं ह्रीं क्रौं फट् स्वाहा'।

आत्म-रक्षा—इसके बाद साधक छाती पर हाथ रख कर निम्न मन्त्र पढ़कर आत्म-रक्षा करे। यथा—

'रक्ष हुँ फट् स्वाहा'।

शक्ति-पूजा—अपनी बाईं ओर स्नान की हुई शुद्ध वस्त्र और आभूषणों से विभूषित शक्ति को बिठाकर उससे पूर्वोक्त विधि से भूतशुद्धि और प्राणायाम करवाये। फिर उसके शरीर में मातृका-न्यास करे। इस प्रकार शक्ति की पूजा करे।

मूलमन्त्र का विनियोगादि—अब साधक मूलमन्त्र के विनियोगादि करे। पहले वह हाथ जोड़कर विनियोग पढ़े। यथा—

अस्य मन्त्रस्य भैरव ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः श्री दक्षिण कालिका देवता ह्रीं वीजं हूँ शक्तिः क्रीं कीलकं रक्षार्थ काममोक्ष-पुरुषार्थचतुष्टयसिद्धिपूर्वक दिव्यज्ञान द्रुतकवित्व पाण्डित्यसिद्धये विनियोगः।

इसके बाद पुष्प या अनामिका से ऋष्यादि का न्यास करे। यथा—

भैरव ऋषये नमः—शिरसि।
उष्णिक् छन्दसे नमः—मुखे।
श्रीदक्षिणकालिकायै नमः—हृदये।
ह्रीं वीजाय नमः—गुह्ये।
हूँ शक्तये नमः—पादयोः।
क्रीं कीलकायै नमः—सर्वाङ्गे।

इसके बाद कराङ्ग-न्यास करे। यथा—

ॐ ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः—दोनों अँगूठों में।
ॐ ह्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा—दोनों तर्जनियों में।
ॐ ह्रूं मध्यमाभ्यां वषट्—दोनों मध्यमाओं में।
ॐ ह्रैं अनामिकाभ्यां हुँ—दोनों अनामिकाओं में।
ॐ ह्रौं कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्—दोनों कनिष्ठिकाओं में।
ॐ ह्रः करतल-करपृष्ठाभ्यां फट्—दोनों हाथों को आपस में तीन बार घुमा कर ताली दे।

इसके बाद षडंग-न्यास करे। यथा—

ॐ ह्रां हृदयाय नमः (तर्जनी, मध्य० और अना० से) हृदय में।
ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा (तर्जनी, मध्यमा से) शिर में।
ॐ ह्रूं शिखायै वषट (मूठी बाँध कर अँगूठे से) शिखा में।
ॐ ह्रैं कवचाय हुँ (दोनों हाथों के पंजे से) दोनों ओर छाती पर।
ॐ ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट् (तर्जनी म० और अना० से) दोनों नेत्रों और ललाट पर।
ॐ ह्रः अस्त्राय फट् (बायें हाथ की हथेली पर दाहने हाथ की तर्जनी और मध्यमा से ताल दे)।

इस प्रकार न्यास कर साधक अपने सामने नीचे से ऊपर की ओर तीन बार फट्कार कर शिर के चारों ओर चुटकियाँ बजा कर दशों दिशाओं का बन्धन करे।

वर्ण-न्यास—इसके बाद साधक वर्ण-न्यास करे। यथा—

अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं नमो हृदि (हृदय पर)
एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं नमो दक्षभुजे (दाहिने हाथ में)
ङं चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढं नमो वामभुजे (बायें हाथ में)

णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं नमो दक्ष जङ्घायाम् (दा० जाँघ में)
मं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं नमो वाम जङ्घायाम् (बायें जाँघ में)

सृष्टिमातृका-न्यास—अब साधक सृष्टिमातृका-न्यास करे। वह हाथ जोड़कर विनियोग पढ़े। यथा—

अस्य बहिर्मातृकायां सृष्टिमातृकान्यासस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः मातृका सरस्वती देवता व्यञ्जनानि बीजानि स्वराः शक्तयः अव्यक्तं कीलकं दक्षिणा कालिका अंगत्वेन सृष्टिमातृका-न्यासे विनियोगः।

इसके बाद ऋष्यादि न्यास करे। यथा—

ब्रह्मणे नमः शिरसि।
गायत्री छन्दसे नमः मुखे।
मातृका सरस्वती देवतायै नमः हृदये।
व्यञ्जनेभ्यो बीजेभ्यो नमः गुह्ये।
स्वरेभ्यो शक्तिभ्यो नमः पादयोः।
अव्यक्तं कीलकाय नमः नाभौ।

देहशुद्ध्यर्थे दक्षिण कालिका देवता अंगत्वेन सृष्टिमातृका--न्यासे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

इसके बाद षडंग-न्यास करे। यथा—

अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः।
इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा।
उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्।
एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुँ।
ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्।
अं यं रं लं वं शं षं सं हं क्षं अः अस्त्राय फट्।

इसके बाद साधक ध्यान करे। यथा—

शरत्पूर्णेन्दुशुभ्रां सकलगुणमयीं लोलरक्तत्रिनेत्रां।
शुक्लालङ्कारभूषां शशिमुकुटजटाटोपयुक्तां प्रसन्नाम्॥
पुस्तीस्रक्पूर्णकुम्भान् वरमपि दधतीं शुक्लपट्टाम्बराढ्यां।
वाग्देवीं पद्मवक्त्रां कुचभरनमिताम् चिन्तयेत् साधकेन्द्रः॥

इसके बाद साधक शरीर के अंगों में मातृका वर्णों का न्यास करे। यथा—

ॐ अं नमः ललाटे=अनामिका-मध्यमा से।
ॐ आं नमः मुखवृत्ते=तर्जनी, मध्यमा और अनामा से।
ॐ इं नमः दक्ष नेत्रे=अंगुष्ठ और अनामा से।
ॐ ईं नमः वाम नेत्रे= ,, ,,
ॐ उं नमः दक्ष कर्णे=अंगुष्ठ से।
ॐ ऊं नमः वाम कर्णे= ,,
ॐ ऋं नमः दक्ष नासायाम्=अंगुष्ठ और कनिष्ठा से।
ॐ ॠं नमः वाम नासायाम्= ,, ,,
ॐ लृं नमः दक्ष गण्डे (गाल की हड्डी)=मध्यमा से।
ॐ ॡं नमः वाम गण्डे = ,,
ॐ एं नमः ओष्ठे = ,,
ॐ ऐं नमः अधरे = ,,
ॐ ओं नमः ऊर्ध्व दन्तपंक्तौ=अनामा से।
ॐ औं नमः अधो दन्तपंक्तौ= ,,
ॐ अं नमः शिरसि =मध्यमा से।
ॐ अः नमः मुखे =अनामा-मध्यमा से।
ॐ कं नमः दक्ष बाहुमूले =मध्यमा से।
ॐ खं नमः दक्ष कूर्परे (हाथ का गेहुआ)=मध्यमा से।
ॐ गं नमः दक्ष मणिबन्धौ (कलाई) = ,,

ॐ घं नमः दक्ष अंगुलिमूले मध्यमा से।
ॐ ङं नमः दक्ष अंगुलि अग्रे ,,
ॐ चं नमः वाम बाहुमूले ,,
ॐ छं नमः वाम कूर्परे ,,
ॐ जं नमः वाम मणिबन्धौ ,,
ॐ झं नमः वाम अंगुलिमूले ,,
ॐ ञं नमः वाम अंगुलि अग्रे ,,
ॐ टं नमः दक्ष उरो (जांघ की जड़) ,,
ॐ ठं नमः दक्ष जानुनि (घुटना) ,,
ॐ डं नमः दक्ष गुल्फे (एड़ा के ऊपर का जोड़) ,,
ॐ ढं नमः दक्ष पाद अंगुलि मूले ,,
ॐ णं नमः दक्ष पाद अंगुलि अग्रे ,,
ॐ तं नमः वाम उरौ ,,
ॐ थं नमः वाम जानुनि ,,
ॐ दं नमः वाम गुल्फे ,,
ॐ धं नमः वाम पाद अंगुलि मूले ,,
ॐ नं नमः वाम पाद अंगुलि अग्रे ,,
ॐ पं नमः दक्ष पार्श्वे (कोख)=कनिष्ठा-अनामा से।
ॐ फं नमः वाम पार्श्वे = ,, ,,
ॐ बं नमः पृष्ठे=कनिष्ठा-अनामा और मध्यमा से।
ॐ भं नमः नाभौ=कनिष्ठा-अनामा-मध्यमा और अंगुष्ठ से।
ॐ मं नमः उदरे=पाँचों अंगुलियों से।
ॐ यं त्वगात्मने (चमड़ा) नमः हृदि=हथेली से।
ॐ रं असृगात्मने (रक्त) नमः दक्षांशे (कन्धा)=हथेली से।
ॐ लं मांसात्मने नमः वामांशे ,,
ॐ वं मेदात्मने (चर्बी) नमः ककुदि (गर्दन पर की रीढ़) ,,
ॐ शं अस्थ्यात्मने (हड्डी) नमः हृदयादि दक्ष करांतम् ,,

ॐ षं मज्जात्मने (हड्डी का गूदा) नमः हृदयादि वाम करांतम् हृथे०
ॐ सं शुक्रात्मने (वीर्य) नमः हृदयादि दक्ष पादान्तम् ,,
ॐ हं प्राणात्मने नमः हृदयादि वाम पादान्तम् ,,
ॐ लं जीवात्मने नमः हृदयादि नाभ्यन्तम् ,,
ॐ क्षं परमात्मने नमः हृदयादि मुखान्तम् ,,

श्रीकण्ठमातृका-न्यास—अब साधक श्री कण्ठ-मातृका-न्यास करे। यथा—

ॐ अं श्रीकण्ठ पूर्णोदरीभ्यां नमः (ललाटे) अना०-मध्य० से।
ॐ आं अनन्तविजयाभ्यां नमः (मुखवृत्ते) तर्ज०-मध्य०-अना० से
ॐ इं सूक्ष्मशाल्मलीभ्यां नमः (दक्ष नेत्रे) अंगुष्ठ अनामा से।
ॐ ईं त्रिमूर्त्तिलोलाक्षीभ्यां नमः (वाम नेत्रे) ,, ,,
ॐ उं अमरेश्वर वर्त्तुलाक्षीभ्यां नमः (दक्ष कर्णे) अंगुष्ठ से।
ॐ ऊं अर्घीश दीर्घघोणाभ्यां नमः (वाम कर्णे) ,,
ॐ ऋं भारभूतीश दीघमुखीभ्यां नमः (दक्षनासायां) अ० क० से
ॐ ॠं अतिथीश गोमुखीभ्यां नमः (वामनासायां) ,,
ॐ लृं स्थाणुक दीर्घजंघामुखीभ्यां नमः (दक्षगण्डे) म० से।
ॐ लॄं कुम्भोदरीभ्यां नमः (वामगण्डे) ,,
ॐ एं झिण्टीश ऊर्द्धकेशीभ्यां नमः (ओष्ठे) ,,
ॐ ऐं भौतिक विकृतमुखीभ्यां नमः (अधरे) ,,
ॐ ओं सद्योजात ज्वालामुखीभ्यां नमः (ऊर्ध्वदन्तपंक्तौ) अनामा से।।
ॐ औं अनुग्रहेश्वर उल्कामुखीभ्यां नमः (अधोदन्तपंक्तौ) ,,
ॐ अं। अक्रूर चुल्लीमुखीभ्यां नमः (शिरसि) मध्यमा से।
ॐ अः महाशील विद्यामुखीभ्यां नमः (मुखे) अनामा ,,
ॐ कं क्रोधीश महाकालीभ्यां नमः (दक्ष बाहुमूले) ,,

ॐ खं चण्डेश सरस्वतीभ्यां नमः (दक्ष कूर्परे) मध्यमा से।
ॐ गं पंचान्तक गौरीभ्यां नमः (दक्ष मणिबन्धौ) ,,
ॐ घं शिवोत्तम त्रैलोक्यविद्याभ्यां नमः (दक्ष अंगुलिमूले) ,,
ॐ ङं एकरुद्र मन्त्रशक्तिभ्यां नमः (दक्ष अंगुलि अग्रे) ,,
ॐ चं कूर्म आत्मशक्तिभ्यां नमः (वाम बाहुमूले) ,,
ॐ छं एकनेत्र भूतमातृभ्यां नमः (वाम कूर्परे) ,,
ॐ जं अर्द्धचतुरानन लम्बोदरीभ्यां नमः (वाम मणिबंधौ) ,,
ॐ झं अजेश द्राविणीभ्यां नमः (वाम अंगुलिमूले) ,,
ॐ ञं सर्वेश नागरीभ्यां नमः (वाम अंगुलि अग्रे) ,,
ॐ टं सोमेश खेचरीभ्यां नमः (दक्ष उरौ) ,,
ॐ ठं लांगल मंजरीभ्यां नमः (दक्ष जानुनि) ,,
ॐ डं दारुक रूपिणीभ्यां नमः (दक्ष गुल्फौ) ,,
ॐ ढं अर्द्धनारीश्वर कारिणीभ्यां नमः (दक्षपाद अंगुलिमूले) ,,
ॐ णं उमाकान्त काकोदरीभ्यां नमः (दक्षपाद ,, अग्रे) ,,
ॐ तं आषाढ़ी पूतनाभ्यां नमः (वाम उरौ) ,,
ॐ थं दण्डी भद्रकालीभ्यां नमः (वाम जानुनि) ,,
ॐ दं अत्रि योगिनीभ्यां नमः (वाम गुल्फौ) ,,
ॐ धं मीन शंखिनीभ्यां नमः (वाम पाद अंगुलिमूले) ,,
ॐ नं मेष गर्जिनीभ्यां नमः (वाम पाद अंगुलि अग्रे) ,,
ॐ पं लोहित कालरात्रिभ्यां नमः (दक्ष पार्श्वे) ,,
ॐ फं शिखी कुब्जिनीभ्यां नमः (वाम पार्श्वे) ,,
ॐ बं छागलाण्ड कपर्दिनीभ्यां नमः(पृष्ठे) ,,
ॐ भं द्विरण्डश वज्रिणीभ्यां नमः (नाभौ) ,,
ॐ मं महाकाल जयाभ्यां नमः (उदरे) ,,
ॐ यं वली सुमुखेश्वरीभ्यां नमः (हृदये) ,,
ॐ रं भुजंगेश रेवतीभ्यां नमः (दक्षांशे) ,,
ॐ लं पिनाकीश माधवीभ्यां नमः (वामांशे) ,,

ॐ वं खड्गेश वारुणीभ्यां नमः (ककुदि) मध्यमा से ।
ॐ शं श्वेत वक्रेश्वर वायवीभ्यां नमः (हृदयादि दक्ष करांतम्) ,,
ॐ षं श्वेत रक्षोविधारिणीभ्यां नमः (हृदयादि वाम ,, ,,)
ॐ सं भृग्वीश वक्षोविदारिणीभ्यां नमः (हृदयादि दक्ष पा०) ,,
ॐ हं नकुली सहजाभ्यां नमः (हृदयादि वाम पा०) ,,
ॐ लं शिव लक्ष्मीभ्यां नमः (,, नाभ्यन्तम्) ,,
ॐ क्षं सम्वर्तकेश महामायाभ्यां नमः (हृदयादि मुखान्तं) ,,

षोढान्यास—अब साधक षोढान्यास करे। यथा—

१—(क) ॐ अं ॐ (ललाटे)···ॐ क्षं ॐ हृदयादि मुखांतम् ।
(ख) ॐ क्षं ॐ (ललाटे)···ॐ अं ॐ हृदयादि मुखांतम् ।
(ग) अं ॐ अं (ललाटे)······क्षं ॐ क्षं ,, ,,
(घ) क्षं ॐ क्षं ,, अं ॐ अं ,, ,,
२—इसी प्रकार 'क्लीं' का
३—इसी प्रकार 'सौः' का
४—इसी प्रकार 'ह्रीं' का
५—इसी प्रकार मूलमन्त्र का अनुलोम-विलोम क्रम से मातृका वर्णों को सम्पुटित कर तथा मातृका वर्णों से इनको सम्पुटित कर चार-चार बार मातृका वर्णों के न्यास के अङ्गों में मुद्राओं के साथ न्यास करे।

न्यास कर चुकने पर १०८ बार मूलमंत्र का जप करता हुआ व्यापक न्यास करे।

तत्त्वन्यास—इसके बाद साधक तत्त्व-न्यास करे। यथा—पैर से नाभि तक—क्रीं क्रीं क्रीं, ह्रीं ह्रीं, हूं हूं ॐ आत्मतत्त्वाय नमः, नाभि से हृदय तक—दक्षिणे कालिके ॐ विद्यातत्त्वाय नमः, हृदय से शिर—तक क्रीं क्रीं क्रीं ह्रीं ह्रीं हूं हूं स्वाहा, ॐ शिवतत्त्वाय नमः ।

जीवन्यास—इसके बाद साधक जीव-न्यास करे। यथा—क्रीं नमः (ब्रह्मरन्ध्रे), क्रीं नमः (भ्रुवौ), क्रीं नमः (भाले), हूं नमः (नाभौ), हूं नमः (गुह्ये), ह्रीं नमः (मुखे), ह्रीं नमः (सर्वाङ्गे)।

व्यापकन्यास—इसके बाद साधक व्यापक न्यास करे। यथा—प्रणव से पुटित मूलमन्त्र पढ़ता हुआ साधक शिर से पैर तक और पैर से शिर तक नौ, सात या पाँच बार व्यापक न्यास करे।

अन्तर्यजन

अब साधक अन्तर्यजन करे। यह यजन भावना से किया जाता है।

स्नान—साधक गुरुदेव का यथाविधि ध्यान कर विन्दु में अथवा हृदय में अथवा ईडा, पिङ्गला के ज्ञानरूपी जल में अपने को डुबो दे। यह अन्तर अथवा मानसिक स्नान हुआ।

सन्ध्या—शिव और शक्ति के संयोग की सहस्रार के विन्दु में भावना-द्वारा ध्यान करना ही अन्तर सन्ध्या है।

तर्पण—मूलाधार चक्र में चन्द्र-सूर्यरूपवाली कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत कर उसे सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार में ले जाकर पर विन्दु को उसके द्वारा भेदन करे। इस क्रिया के करते समय चन्द्र और सूर्य से जो अमृत झरता है, उसी दिव्य जल से देवता का तर्पण करे।

अर्घ्य—सहस्रार के अधोभाग में जो चन्द्रमण्डल है, उसी को पात्र मानकर कलासाधन की सहायता से अमृत से

उसे पूर्ण कर खेचरी का तर्पण करे। इसी का नाम अर्घ्य साधन है।

ध्यान—

आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे तालुमूले ललाटे।
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्द्धे चतुष्के॥
वासन्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वरांश्च।
हक्षौ कोदण्डमध्ये न्यसतु विमलधीर्न्याससम्पत्तिसिद्ध्यै॥

आधार में, लिङ्गमूल में, नाभि में, हृदय में, कण्ठदेश में, ललाट में क्रमशः चतुर्दल–षट्दल–दशदल-द्वादशदल-षोडशदल-द्विदल चक्रों में क्रमानुसार—व, श, ष, स—ब, भ, म, य, र, ल–ड से फ तक—क से ठ तक—अ से अः तक और ह क्ष का ध्यान करे। इस प्रकार षट्चक्रों में मातृका वर्णों का ध्यान करना ही ध्यान है अथवा—

षडङ्गन्यास—हृदय में चिदात्मक वस्तु का 'हृदयाय नमः' मन्त्र से साधन करे। इसी प्रकार शिर में तेज का ध्यान कर उसकी साधना करे। यथा—

इज्यमानहृदर्थोऽयं हृदये स्याच्चिदात्मकः।
क्रियते तत्परत्वेन हृन्मंत्रेण ततः परम्॥
सर्वज्ञादिगुणोत्तुंगे संवद्रूपे परात्मनि।
क्रियते विषयाहारः शिरोमंत्रेण देशिकः॥
हच्छिरोरूपसिद्धौ नियता भावना दृढा।
क्रियते निजदेहस्य शिखामंत्रेण देशिकः॥
मंत्रात्मकस्य देहस्य मंत्रवाच्येन तेजसा।
सर्वता धर्ममन्त्रेण अहन्यहनि संवृतिः॥

इति अहिंसनीयवह्निलक्षणम् ।
यत्र क्षणे हिंसाणां हिंसोपाया न प्रवर्त्तंते इत्यर्थः ॥
यो ददाति परं ज्ञानं संविद्रूपे परात्मनि ।
हृदयादिमयं तेजः स्यादेतन्मैत्र संज्ञितम् ॥
आध्यात्मिकादिरूपं यत् साधकस्य विनाशयेत् ।
अविद्याशतमंत्रं तत्परं धाम समीरितम् ॥

इस प्रकार षडङ्गन्यास विधानपूर्वक कर ध्यान करे। यथा—उदयाकर पद्धति में कहा है—कुलाकुल नियोजन सहित ज्योतिस्तत्त्वमय ध्यान करे। अथवा शृंगाटद्वितय (भालमध्य में) मध्यस्थित और दो शक्ति पुटन समरस ध्यान करे। अन्यत्र भी कहा है कि उपाधिशून्य, आलम्बनशून्य ब्रह्मपद में जो तेज उत्पन्न होता है, उसी अंतःकरणस्थ तेज का बारम्बार ध्यान करे। यही कुलयोगी गणों का ध्यान है।

पुष्प—अनहंकार, अमद, अराग, अमोह, अद्वेष, अदम्भ, अमाय, अमात्सर्य, अक्षोभ्य, अलोभ—इन दश पुष्पों या अहिंसा, इन्द्रिय निग्रह, दया, क्षमा, इन पुष्पों से पूजा करनी चाहिये।

पूजा—'सोहं' भाव का अभ्यास करना ही पूजा है।

न्यास—पूजा में तन्मय हो जाना ही न्यास है।

जप—वर्णमाला में मानसिक भाव से इष्टमन्त्र का जप कर जपफल तेजरूप देवता को समर्पित करे।

होम—नाभिदेश में चौकोर चित्तरूपी कुण्ड की ज्ञानरूपी अग्नि में निम्न मन्त्रों से अन्तर हवन करे—

(मूलं) नाभौ चैतन्यरूपाग्नौ हविषा मनसा स्रुवा।
ज्ञानप्रदीपितं नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहं स्वाहा ॥
(इति प्रथमाहुति)

(मूलं) धर्माधर्मौ हविर्दीप्तमात्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहं स्वाहा ॥
(इति द्वितीयाहुति)

(मूलं) प्रकाशाकाशहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनी स्रुवा।
धर्माधर्मफलस्नेहपूर्णां वह्नौ जुहोम्यहं स्वाहा ॥
(इति तृतीयाहुति)

(मूलं) अन्तर्निरन्तरनिरिन्धनमेधमाने।
मायान्धकारपरिपंथिनि संविदग्नौ ॥
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचि विकाशभूमौ।
विश्वं जुहोमि वसुधां दिशिवावसानम् ॥
(इति चतुर्थ आहुति)

बाह्य-पूजा

अब साधक बाह्य पूजा करे। इसके लिये पहले वह अपने शरीर में पीठन्यास करे। यथ.—

पीठन्यास—हृदय में ॐ आधारशक्तये नमः, ॐ प्रकृत्यै नमः, ॐ कमठाय नमः, ॐ शेषाय नमः, ॐ पृथिव्यै नमः, ॐ सुधाम्बुधये नमः, ॐ मणिद्वीपाय नमः, ॐ चिन्तामणिगृहाय नमः, ॐ श्मशानाय नमः, ॐ पारिजाताय नमः, ॐ रत्नवेदिकायै नमः, ॐ मणिपीठाय नमः।

मणिपीठ की चारों दिशाओं में—ॐ मुनिभ्यो नमः पूर्व में, ॐ देवेभ्यो नमः दक्षिण में, ॐ शिवाभ्यो नमः पश्चिम में, ॐ शवमुण्डेभ्यो नमः उत्तर में।

ॐ धर्माय नमः दायें कन्धे में ।
ॐ ज्ञानाय नमः बाँयें कन्धे में ।
ॐ वैराग्याय नमः बाईं जाँघ में ।
ॐ ऐश्वर्याय नमः दाईं जाँघ में ।
ॐ अधर्माय नमः मुख में ।
ॐ अज्ञानाय नमः बाईं कोख में ।
ॐ अवैराग्याय नमः नाभि में ।
ॐ अनैश्वर्याय नमः दाईं कोख में ।

पुनः हृदय में मणिपीठ पर न्यास करे—ॐ कन्दाय नमः, ॐ पद्माय नमः, अं अर्कमण्डलाय नमः, उं सोममण्डलाय नमः, मं वह्निमण्डलाय नमः, सं सत्वाय नमः, रं रजसे नमः, तं तमसे नमः, आं आत्मने नमः, अं अन्तरात्मने नमः, पं परमात्मने नमः, ह्रीं ज्ञानात्मने नमः ।

अष्टदलकमल में पूर्व की दिशा के दल से—इं इच्छायै नमः, ज्ञां ज्ञानायै नमः, क्रिं क्रियायै नमः, कां कामिन्यै नमः, कां कामदायै नमः, रं रत्यै नमः, रं रतिप्रियायै नमः, आं आनन्दायै नमः । (मध्य में) मं मनोन्मन्यै नमः ।

कमल की कर्णिका में—ऐं परायै नमः, ऐं अपरायै नमः, ऐं द्विरूपायै नमः, ह्सौः सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनाय नमः ।

ध्यान और आवाहन—इस प्रकार पीठन्यास कर चुकने पर कामकला के रूप में आत्मा का ध्यान करे ।* फिर

---

* श्रीक्रम में लिखा है—

उस ईश्वररूपिणी देवी को यावतीय कामिनी रूप में और सर्वव्यापककारिणी सुन्दरी रूप में ध्यान करे । प्रथम देवी के वक्त्र में तीन विन्दु और हृदय में दो विन्दुस्वरूप स्तनद्वन्द्व (दोनों वक्ष) नियोजित करके सूक्ष्म हकारार्द्ध का योनि में चिन्ता करे । फिर मदनांकुर गोचर में कामकला रूप की भावना करनी चाहिये । यह कामकला

मूलाधार से कुंडलिनी को सहस्रार में स्थित परमशिव के समीप ले जाय। तदनन्तर हृदय के लाल रङ्ग के अष्टदल कमल में इष्टदेवता का ध्यान करे।* फिर उसका मानसोपचारों से पूजन कर, मानसिक जप वा हवन और नमस्कार कर स्तोत्र-पाठ करे। फिर उसे सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से सहस्रार की कर्णिका के चन्द्रमण्डल में ले जाय। यहाँ मूलाधार से आई हुई कुण्डलिनी शक्ति और कर्णिका के विंदु में स्थित शिव के संयोग से जो लाल रङ्ग का द्रव्य क्षरित हो रहा है, उससे देवता को स्नान करावे। फिर हाथ में लिये हुए चन्दन लगे पुष्प को कच्छप मुद्रा के भीतर रखकर दोनों हाथों को छाती पर स्थापित कर यह भावना करे कि सहस्रार के चन्द्रमण्डल से सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से नासिका से होती हुई इष्टदेवता उस पुष्प में आ गई है। तब साधक पुष्प सहित देवता को अपने सामने स्थापित यन्त्र में भक्ति-भाव से प्रतिष्ठित करे।

उदय हुए प्रभाकर (चन्द्रमा) के समान और सिन्दूरवत् आभायुक्त है। हे प्रिये ! दोनों स्तनों में विन्दु की कल्पना करके वदनमण्डल में आधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त तन्त्रमार्गानुसार स्फूर्त्तिमती की दीपशिखा-रूप में चिन्ता करे। मैं ही वह विन्दुरूप काम हूँ। साक्षात् परमेश्वरी उस विन्दु में विराजमान है। उसके अधोवर्त्ती दोनों कुच शिवशक्तिमय हैं। उसके अधोभाग-स्थित सपरार्द्ध चित्-स्वरूपिणी परमा कला है। इसका ही नाम कामकला-स्वरूपिणी कुंडलिनी शक्ति है। यह चौदह ग्रन्थियाँ भेद कर शिखावर्त्म में गमन और सूक्ष्म-मार्ग रूप एवं परमाग में प्रवेश करती है। यही त्रिविधा सृष्टि और यही ब्रह्मा-विष्णु-स्वरूपिणी है।

* श्री गुरुदेव का बताया हुआ इष्टदेवता का ध्यान पढ़कर उसके दिव्य स्वरूप की कल्पना करे।

पीठ-पूजा—इस प्रकार साधक देवता के यन्त्र में आवाहन कर पीठ-पूजा करे। यह पीठ-पूजा वह भावना-द्वारा यन्त्र के ऊपर करे। यथा—

ह्रीं आधारशक्तये नमः, ॐ प्रकृत्यै नमः, ॐ कूर्माय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, लं पृथिव्यै नमः, ॐ सुधाम्बुधये नमः, ॐ मणिद्वीपाय नमः, ॐ चिंतामणिगृहाय नमः, ॐ श्मशानाय नमः, ॐ पारिजाताय नमः, ॐ रत्नवेदिकायै नमः, ॐ मणिपीठाय नमः।

मणिपीठ की दिशाओं में—ॐ नमो मुनेभ्यः (पूर्व में)।
ॐ नमो नानादेवेभ्यः (दक्षिण में)।
ॐ नमो बहुमांसास्थिमोदमानाशिवाभ्यः (पश्चिम में)।
ॐ नमो शवमुण्डेभ्यः (उत्तर में)।

मणिपीठ की आठों दिशाओं में—

ॐ धर्माय नमः (पूव में)।
ॐ ज्ञानाय नमः (दक्षिण में)।
ॐ वैराग्याय नमः (पश्चिम में)।
ॐ ऐश्वर्याय नमः (उत्तर में)।
ॐ अधर्माय नमः (आग्नेयकोण में)।
ॐ अज्ञानाय नमः (नैऋर्त्यकोण में)।
ॐ अवैराग्याय नमः (वायव्यकोण में)।
ॐ अनैश्वर्याय नमः। (ईशानकोण में)।

मणिपीठ के मध्य में—ॐ कन्दाय नमः, ॐ पद्माय नमः, अं अर्कमण्डलाय नमः, उं सोममण्डलाय नमः, मं वह्निमण्डलाय नमः, सं सत्त्वाय नमः, रं रजसे नमः, तं तमसे नमः, आं आत्मने नमः, अं अन्तरात्मने नमः, पं परमात्मने नमः, ह्रीं ज्ञानात्मने नमः।

अष्टदल कमल के प्रत्येक दल के मूल भाग में पूर्व दिशा से—ॐ इच्छायै नमः, ॐ ज्ञानायै नमः, ॐ क्रियायै नमः, ॐ कामिन्यै नमः, ॐ कामदायै नमः, ॐ रत्यै नमः, ॐ रतिप्रियायै नमः, ॐ आनन्दायै नमः। कमल के मध्य में—ॐ मनोन्मन्यै नमः।

पुनः कमल के मध्य में—ऐं परायै नमः, ऐं अपरायै नमः, ऐं परापरायै नमः, ह्सौः सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनाय नमः।

इस प्रकार पीठ-पूजा कर चुकने और महाप्रेतपद्मासन पर इष्टदेवता को प्रतिष्ठित समझ कर साधक उसके पूजन-विधान के कार्य में संलग्न हो। सर्वप्रथम वह कलश की स्थापना करे।

कलश-स्थापन—अपने वाम भाग में भूमि पर बिंदु-षट्कोण-चतुरस्र का मण्डल रक्त चन्दन से बनावे। फिर उस पर सामान्यार्घ्य का जल छिड़के और 'आधारशक्तये नमः' इस मंत्र से आधारशक्ति को नमस्कार कर पूजन करे। फिर आधार को ले 'नमः' मंत्र से धो उसे मंण्डल पर स्थापित करे। फिर 'मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने नमः' मंत्र पढ़कर आधार पर वह्निमंडल का पूजन करे। तब कलश को ले 'फट्' मंत्र से धो रक्त वस्त्र से वेष्ठित कर माला से उसे विभूषित करे। फिर ॐ कह कर उसे देवी-रूप समझ कर उसे आधार पर स्थापित करे और उस पर 'अं अर्कमण्डलाय द्वादशकलात्मने नमः' इस मन्त्र से सूर्यमण्डल का पूजन करे। तब कलश में मूलमन्त्र पढ़ता हुआ कारण भरे। फिर 'उं सोममण्डलाय षोडशकलात्मने नमः' इस मंत्र से कारणद्रव्य पर सोममण्डल का पूजन करे। तव कुश से कारणद्रव्य का ताड़न करे और 'हुँ' पढ़कर अवगुण्ठन मुद्रा से उसका अवगुण्ठन करे। फिर

मूलमन्त्र पढ़कर उसे देखे। तब उसमें सामान्यार्घ्य का जल छिड़के। फिर मूलमन्त्र पढ़कर उसे गन्ध प्रदान करे और 'ॐ' पढ़कर पुष्प प्रदान करे। अब इसके बाद द्रव्य का शापमोचन करे। यथा—

ॐ एकमेव परं ब्रह्म स्थूलसूक्ष्ममयं ध्रुवम्।
कचोद्भवां ब्रह्महत्यां तेन ते नाशयाम्यहम् ॥१॥
ॐ सूर्यमण्डलसम्भूते! वरुणमण्डलसम्भवे।
अमावीजमये देवि! शुक्रशापाद्विमुच्यताम् ॥२॥
ॐ देवानां प्रणवो वीजं ब्रह्मानन्दमयं यदि।
तेन सत्येन देवेश! ब्रह्महत्यां व्यपोहतु ॥३॥

इन मन्त्रों को तीन-तीन बार पढ़कर द्रव्य को अभिमन्त्रित करे। इसके बाद निम्नलिखित मन्त्रों को द्रव्यों के ऊपर जप करे। यथा—

'ॐ वां वीं वूं वैं वौं वः ब्रह्मशापविमोचितायै सुरादेव्यै नमः'—इस मन्त्र का दस बार जप करे।

'ह्रीं श्रीं क्रां क्रीं क्रूं क्रैं क्रौं क्रः सुराकृष्णशापं विमोचय अमृतं स्रावय-स्रावय स्वाहा'—इस मन्त्र का दस बार जप करे।

ॐ हंसः शुचिषत् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् नृषद् वर सदृतसद्व्योम सदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्। इस मन्त्र को तीन बार द्रव्य के ऊपर जपकर शोधन करे।

इसके बाद कारण द्रव्य के ऊपर आनन्दभैरव और आनंदभैरवी का क्रमशः ध्यान कर उनके मंत्रों से पूजन करे। यथा—

आनन्दभैरव का ध्यान—

सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्।
अष्टादशभुजैर्युक्तं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥

अमृतार्णवमध्यस्थं ब्रह्मपद्मोपरिस्थितम्।
वृषारूढं नीलकण्ठं सर्वाभरणभूषितम्॥
कपालखट्वाङ्गधरं घण्टाडमरुवादिनम्।
पाशांकुशधरं देवं गदामूषलधारिणम्॥
खड्गखेटकपट्टीशं मुद्गरं शूलदण्डकम्।
विचित्रखेटकं मुण्डं वरदाभयपाणिनम्॥
लोहितं देवदेवेशं भावयेत् साधकोत्तमः।

इस प्रकार आनन्दभैरव का ध्यान कर 'ह स क्ष म ल व र यूँ आनन्दभैरवाय वषट्' इस मन्त्र से उनका पूजन करे तथा मन्त्र का तीन बार जप करे।

आनन्दभैरवी का ध्यान—

भावयेच्च सुधां देवीं चन्द्रकोट्यानन्प्रभाम्।
हेमकुन्देन्दुधवलां पञ्चवक्त्रां त्रिलोचनाम्॥
अष्टादशभुजैर्युक्तां सर्वानन्दकरोद्यताम्।
प्रहसन्तीं विशालाक्षीं देवदेवस्य सम्मुखीम्॥

इस प्रकार आनन्दभैरवीरूपिणी सुधादेवी का ध्यान कर 'स ह क्ष म ल व र यीं आनन्दभैरव्यै वौषट्' इस मन्त्र से देवी का पूजन कर मन्त्र का तीन बार जप करे।

इसके बाद द्रव्य के ऊपर कल्पना से अकथादि यन्त्र लिखे। इस यन्त्र के मध्य में आनंदभैरव और आनन्दभैरवी का संयोगावस्था में ध्यान करे और यह समझे कि कारण द्रव्य अमृतमय हो गया है। फिर उसे धेनुमुद्रा दिखाकर अमृतमय करे। तदनन्तर द्रव्य के ऊपर वरुण वीज 'वं' का और फिर मूलमन्त्र का आठ-आठ बार जप करे और यह समझे कि वह द्रव्य इष्टदेवता स्वरूप हो गया है।

इसके बाद मध्य में सामान्यार्घ्य-पात्र की विधि से शंख-पात्र की स्थापना करे। यथा—

शंखपात्र—कलश और सामान्यार्घ्य पात्र के मध्य भूमि पर त्रिकोण वृत्त का एक मण्डल बनावे। उसमें गंधाक्षत से 'ॐ आधारशक्त्यै नमः' से आधारशक्ति की पूजा करे। फिर 'फट्' मन्त्र से आधार को धोकर उसे मण्डल पर स्थापित करे और 'ॐ शङ्खपात्राधाराय नमः' इस मन्त्र से गधाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। तब 'फट्' मन्त्र से पात्र को धोकर उसे आधार पर रख कर 'ॐ शङ्खपात्राय नमः गंधाक्षतम् समर्पयामि' इस मन्त्र से गंधाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। फिर 'ह्रीं' मन्त्र पढ़ता हुआ उसमें जल भरे। फिर उसमें 'ॐ गंगे च यमुने चैव' इत्यादि मन्त्र पढ़कर अंकुशमुद्रा द्वारा सूर्यमण्डल से तीर्थों का आवाहन करे। फिर 'ॐ' मन्त्र पढ़कर पात्र के जल में गंध, पुष्प, अक्षत छोड़े और धेनुमुद्रा दिखाकर उस जल को अमृतमय करे। तब पात्र के ऊपर 'ॐ' का दस बार जप करे और उसमें रक्त चन्दन, विल्वपत्र, जवाकुसुम आदि छोड़े।

विशेषार्घ्यपात्र (श्रीपात्र)—अब साधक विशेषार्घ्यपात्र की स्थापना करे। यथा—अपने और यन्त्रराज के बीच में तथा कलश की सीध में दाहिनी ओर विशेषार्घ्यपात्र की स्थापना के लिये साधक मण्डल की रचना करे। पहले त्रिकोण के बीच में 'ई' लिखे, फिर षट्कोण, इसके बाद चतुरस्र का मण्डल बनावे। पूर्व दिशा के क्रम से चतुरस्र के कोणों में—पूं पूर्णशैलपीठाय नमः (पूर्व में), उं उड्डीयानपीठाय नमः (दक्षिण में), जां जालन्धरपीठाय नमः (पश्चिम में), कां कामरूपपीठाय नमः (उत्तर में) इन मन्त्रों से पूजा करे।

अब साधक पूर्वादि दिशा के क्रम से षट्कोण के छः कोणों में पूजा करे—

ह्रां हृच्छक्त्यै नमः।
ह्रीं शिरशक्त्यै नमः।
ह्रूँ शिखाशक्त्यै नमः।
ह्रैं कवचशक्त्यै नमः।
ह्रौं नेत्रशक्त्यै नमः।
ह्रः अस्त्रशक्त्यै नमः।

अब त्रिकोण में पूर्वादि दिशा के क्रम से अपने मूलमन्त्र के तीन खण्ड करके एक-एक खण्ड से तीनों कोनों में पूजन करे।

अब त्रिकोण के मध्य में 'ह्रीं आधारशक्त्यै नमः' इस मंत्र से आधारशक्ति का पूजन करे।

इस प्रकार मण्डल का पूजन कर उस पर त्रिकोण, वृत्त, षट्कोण अंकित आधार को स्थापित करे। उस आधार पर 'नमः' कह कर सामान्यार्घ्यपात्र का जल छिड़के। अब साधक उस आधार पर मण्डलाकार क्रम से अग्नि की कलाओं का पूजन कर अग्निमण्डल का पूजन करे। यथा—

यं धूम्रार्चिषे नमः, रं उष्मायै नमः, लं ज्वलिन्यै नमः, वं ज्वालिन्यै नमः, शं विस्फुलिंगिन्यै नमः, षं सुश्रियै नमः, सं स्वरूपायै नमः, हं कापलायै नमः, लं हव्यवहायै नमः, क्षं कव्यवहायै नमः। मध्य में—मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने नमः, अर्घ्यपात्रासनाय नमः।

इस प्रकार आधार में वह्निमण्डल का पूजन कर उसके षट्कोणों में षडङ्गों का पूजन करे। यथा—पूर्व दिशा के कोण से—ह्रां हृच्छक्त्यै नमः, ह्रीं शिरशक्त्यै नमः, ह्रूँ शिखाशक्त्यै नमः, ह्रैं कवचशक्त्यै नमः, ह्रौं नेत्रशक्त्यै नमः, ह्रः अस्त्रशक्त्यै

नमः। इसके बाद षट्कोण के भीतर के त्रिकोणँ में प्रत्येक कोण का अपने मन्त्र का तीन खण्ड करके पूजन करे। यह पूजन पूर्व दिशा के कोण से शुरू करे। मूलमंत्र के एक खण्ड से एक कोण की, दूसरे खण्ड से दूसरे कोण की और तीसरे खण्ड से तीसरे कोण की पूजा करे।

इस प्रकार आधार आदि का पूजन कर चुकने पर कपाल आदि पात्र हाथ में लेकर उसमें सामान्यार्घ्य पात्र का जल छोड़कर 'फट्' मंत्र से उसे धोकर आधार पर स्थापित करे। फिर उसके चारों ओर सूर्यमण्डल का पूजन करे। यथा—

कं भं तपिन्यै नमः, खं बं तापिन्यै नमः, गं फं धूम्रायै नमः, घं पं मरीच्यै नमः, ङं नं ज्वलिन्यै नमः, चं धं रुच्यै नमः, छं दं सुषुम्नायै नमः, जं थं भोगदायै नमः, झं तं विश्वायै नमः, ञं णं बोधन्यै नमः, टं ढं धारिण्यै नमः, ठं डं क्षमायै नमः। पात्र के बीच में—अं अर्कमण्डलाय द्वादशकलात्मने अर्घ्यपात्राय नमः।

इस प्रकार पात्र के ऊपर सूर्यमण्डल का पूजन कर उसके भीतर त्रिकोण, वृत्त और षट्कोण का यन्त्र लिखे। फिर मूल-मन्त्र से त्रिकोण की पूजा करे। तब वरुणबीज 'वं', मूलमन्त्र और विलोममातृका वर्णों का उच्चारण कर अर्थात्—वं मूल क्षं लं हं सं षं शं वं लं रं यं मं भं बं फं पं नं धं दं थं तं णं ढं डं ठं टं ञं झं जं छं चं ङं घं गं खं कं अः अं औं ओं ऐं एं ॡं लृं ॠं ऋं ऊं उं ईं इं आं अं—यह मन्त्र समूह पढ़कर कलश के द्रव्य से पात्र का तीन भाग पूर्ण करे। शेष भाग जल से पूर्ण करे। फिर उसमें दूर्वा, अक्षत, रक्तचन्दन, यव, मदार पुष्प, श्वेत अपराजिता, कनैर पुष्प, बिल्वपत्र, बर्वरी, कुन्द पुष्प, सुगन्ध द्रव्यादि छोड़े।

(मांस शोधन)

इसके वाद साधक एक पात्र में मांस लेकर अपने सामने रक्खे और उसे अपने दाहिने हाथ से स्पर्श कर निम्न मन्त्र पढ़कर अभिमन्त्रित करे—

ॐ प्रतद्विष्णुस्तुवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षिपन्ति भुवनानि विश्वाः ॥

(मीन शोधन)

इसके वाद मत्स्यखण्ड एक पात्र में लेकर शुद्धिपात्र के पास रखकर उसको पूर्ववत् निम्न मन्त्र से अभिमन्त्रित करे—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात् ॥

(मुद्रा शोधन)

इसके वाद अन्न के बने हुये सब पदार्थ थोड़े-थोड़े एक पात्र में लेकर उसे मीन-पात्र के पास रखकर निम्न मन्त्र पढ़कर अभिमन्त्रित करे—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ।
तद्विप्रासो विपण्यवो जागृवांसः समिधते विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥

(पञ्चम शोधन)

इसके वाद पञ्चमतत्त्व एक पात्र में लेकर उसे मुद्रापात्र के पास स्थापित कर निम्न मन्त्र से पूर्ववत् अभिमन्त्रित करे—

ॐ विष्णुः योनिं कल्पयतु त्वष्टारूपाणि पिंशतु ।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु वै ॥
गर्भं देहि सिनीवालि गर्भं देहि सरस्वति ।
गर्भं धेह्यश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा ॥

प्लुं क्लुं म्लुं ङ्लुं स्वाहा अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहा।

इस प्रकार चारों तत्त्वों को अभिमन्त्रित करके उन सबका अवगुण्ठन मुद्रा से 'हुँ' का उच्चारण कर अवगुण्ठन करे। फिर चारों को धेनुमुद्रा दिखाकर उन्हें अमृतमय करे। तब उन पर तीन बार ताली देकर दस बार चुटकियाँ दशों दिशाओं में बजाकर उनका दिग्बन्धन करे। फिर उन सब पर क्रम से सात-सात बार मूलमन्त्र का जप करे। इसके बाद उन सब पात्रों को उठाकर अपनी बाईं ओर रख दे। इस प्रकार चारों तत्त्वों का शोधन कर उन सबका खण्ड लेकर विशेषार्घ्य में छोड़े। तदनन्तर पात्र के द्रव्य के चारों ओर सोममंडल का पूजन करे। यथा—

अं अमृतायै नमः, आं मानदायै नमः, इं पूषायै नमः, ईं तुष्ट्यै नमः, उं पुष्ट्यै नमः, ऊं रत्यै नमः, ऋं धृत्यै नमः, ॠं शशिन्यै नमः, लृं चन्द्रिकायै नमः, ॡं कान्त्यै नमः, एं ज्योत्स्नायै नमः, ऐं श्रियै नमः, ओं प्रीत्यै नमः, औं अङ्गदायै नमः, अं पूर्णायै नमः, अः पूर्णामृतायै नमः। द्रव्य के मध्य में— उं सोममण्डलाय षोडश-कलात्मने विशेषार्घ्यपात्रामृताय नमः।

इसके बाद पहले की भाँति पात्र के द्रव्य के मध्य में अकथ त्रिकोण की कल्पना करे। उस त्रिकोण के एक-एक कोण का मूलमंत्र के एक-एक खण्ड से पूजन करे। इसके बाद पात्र में पहले से लिखित षट्कोणों के प्रत्येक कोण में षडङ्गों का पूजन पूर्व दिशा के कोण से वामावर्त्त क्रम से करे। यथा—

ह्रां हृच्छक्त्यै नमः।
ह्रीं शिरशक्त्यै नमः।
ह्रूं शिखाशक्त्यै नमः।

हैं कवचशक्त्यै नमः ।
ह्रौं नेत्रशक्त्यै नमः ।
ह्रः अस्त्रशक्त्यै नमः ।

फिर 'ॐ गंगे' इत्यादि मन्त्र से अंकुशमुद्रा द्वारा पात्र के द्रव्य में सूर्यमण्डल* से तीर्थों का आवाहन करे। इसके बाद अकथ त्रिकोण के बीच में आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी का आवाहन कर उनके मन्त्रों से उनका पूजन करे। यथा—पहले आनन्दभैरव का ध्यान पढ़े। फिर उनको आवाहनीय आदि पांच मुद्राएँ दिखाकर उन्हें उक्त यन्त्र में स्थापित कर उनका पूजन करे। यथा—

श्री आनन्दभैरव इहागच्छ इहागच्छ ।
श्री आनन्दभैरव इह तिष्ठ इह तिष्ठ ।
श्री आनन्दभैरव इह सन्निधेहि इह सन्निधेहि ।
श्री आनन्दभैरव इह सन्निरुद्धस्व इह सन्निरुद्धस्व ।
श्री आनन्दभैरव इह सम्मुखीभव इह सम्मुखीभव ।

हसक्षमलवरयूँ आनन्दभैरवाय वषट् गन्धं समर्पयामि ।
हसक्षमलवरयूँ आनन्दभैरवाय वषट् पुष्पं समर्पयामि ।
हसक्षमलवरयूँ आनन्दभैरवाय वषट् धूपं समर्पयामि ।
हसक्षमलवरयूँ आनन्दभैरवाय वषट् दीपं समर्पयामि ।
हसक्षमलवरयूँ आनन्दभैरवाय वषट् नैवेद्यं समर्पयामि ।
हसक्षमलवरयूँ आनन्दभैरवाय वषट् ताम्बूलं समर्पयामि ।

फिर आनन्दभैरवी का ध्यान पढ़कर उनका आनन्दभैरव के समीप उनके मन्त्र से पूजन करे। यथा—

* निशाकाल की पूजा में सूर्यमंडल के स्थान में चन्द्रमंडल से तीर्थों के आवाहन करने की पद्धति है।

श्री आनन्दभैरवि देवि ! इहागच्छ इहागच्छ ।
श्री आनन्दभैरवि देवि ! इह तिष्ठ इह तिष्ठ ।
श्री आनन्दभैरवि देवि ! इह सन्निधेहि इह सन्निधेहि ।
श्री आनन्दभैरवि देवि ! इह सन्निरुद्धस्व इह सन्निरुद्धस्व ।
श्री आनन्दभैरवि देवि ! इह सम्मुखीभव इह सम्मुखीभव ।

सहक्षमलवरयीं आनन्दभैरव्यै वौषट् गन्धं समर्पयामि ।
सहक्षमलवरयीं आनन्दभैरव्यै वौषट् पुष्पं समर्पयामि ।
सहक्षमलवरयीं आनन्दभैरव्यै वौषट् धूपं समर्पयामि ।
सहक्षमलवरयीं आनन्दभैरव्यै वौषट् दीपं समर्पयामि ।
सहक्षमलवरयीं आनन्दभैरव्यै वौषट् नैवेद्यं समर्पयामि ।
सहक्षमलवरयीं आनन्दभैरव्यै वौषट् ताम्बूलं समर्पयामि ।

इस प्रकार पूजा कर चुकने पर अर्घ्यपात्र के ऊपर पूर्वादि दिशा के क्रम से चारों दिशाओं में पञ्चरत्नों का पूजन करे। यथा—

ग्लूं गगनरत्नेभ्यो नमः—पूर्व में ।
स्लूं स्वर्गरत्नेभ्यो नमः—दक्षिण में ।
प्लूं पातालरत्नेभ्यो नमः—पश्चिम में ।
म्लूं मर्त्यलोकरत्नेभ्यो नमः—उत्तर में ।
न्लूं नागलोकरत्नेभ्यो नमः—मध्य में ।

अब साधक अर्घ्यपात्र पर हाथ रखकर निम्न मन्त्र पढ़कर उसे अभिमन्त्रित करे। यथा—

ऐं ह्रीं सौः ब्रह्माण्डरससम्भूतमशेषरससम्भवम् ।
आपूरितं महापात्रं पीयूषरससंयुतम् ॥१॥
अखण्डैकरसानन्दकरे परसुधात्मनि ।
स्वच्छन्दस्फुरणामत्र निधेहि कुलरूपिणि ॥२॥

कुलस्थामृताकारे शुद्धज्ञानकरे धरे।
अमृतत्त्वं निधेह्यस्मिन् वस्तूनि क्लिन्नरूपिणि ॥३॥

तद्रूपेणैकरस्यं च दत्वा ह्येतत्स्वरूपिणि।
भूत्वा परामृताकारं मयि चित्स्फुरणं कुरु ॥४॥

इस प्रकार अर्घ्यपात्र को अभिमन्त्रित कर द्रव्य के बीच में ईंकाररूप कामकला को कल्पना-द्वारा लिखकर उस पर इष्टदेवता का आवाहन करे। यथा—

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इहागच्छ इहागच्छ।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह तिष्ठ इह तिष्ठ।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सन्निधेहि इह सन्निधेहि।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सन्निरुद्धस्व इह सन्निरुद्धस्व।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सम्मुखीभव इह सम्मुखीभव। मम सर्वोपचारपूजां गृहाण गृहाण।

उक्त मन्त्र-वाक्य पढ़ता हुआ यथा क्रम से पाँचों मुद्राएँ दिखाता जाय। इस प्रकार देवता का आवाहन करे। तालत्रय देकर दशों दिशाओं में चुटकियाँ बजाकर दिग्बन्धन करे। फिर 'हुं' बीज पढ़कर अवगुण्ठन मुद्रा से अवगुण्ठन करे। फिर धेनुमुद्रा से अमृतमय करे। तब योनिमुद्रा दिखाकर नमस्कार करे। फिर उनकी पूजा करे। यथा—

हंसः नमः गन्धं समर्पयामि।
हंसः नमः पुष्पं समर्पयामि।
हंसः नमः धूपं समर्पयामि।
हंसः नमः दीपं समर्पयामि।

हंसः नमः नैवेद्यं समर्पयामि ।

हंसः नमः ताम्बूलं समर्पयामि ।

तदनन्तर शङ्खमुद्रा दिखाकर उनके षडङ्गों का पूजन कर उनका सकलीकरण करे । यथा—

ह्रां हृच्छक्त्यै नमः ।

ह्रीं शिरशक्त्यै नमः ।

ह्रूं शिखाशक्त्यै नमः ।

ह्रैं कवचशक्त्यै नमः ।

ह्रौं नेत्रशक्त्यै नमः ।

ह्रः अस्त्रशक्त्यै नमः ।

इसके बाद पात्र के द्रव्य पर मत्स्य मुद्रा प्रदर्शित कर मूल-मन्त्र का दस बार जप करे। इस प्रकार पूजन कर विशेषार्घ्यपात्र को ध्यान-द्वारा देवता-स्वरूप समझे । तदनन्तर अर्घ्यपात्र को तीन पुष्पाञ्जलियाँ प्रदान करे । इसके बाद उसे धूप तथा दीप प्रदान करे ।

गुरुपात्रादि का स्थापन

अब साधक कलश के पास से विशेषार्घ्य पात्र तक एक पंक्ति में गुरु, भोग, शक्ति, योगिनी, वीर, बलि, पाद्य, आचमनीय आदि पात्रों की स्थापना करे यथा—

१. गुरुपात्र—साधक कलश के पास भूमि पर त्रिकोण-वृत्त का एक मण्डल बनावे । उसमें गन्धाक्षत से 'ॐ आधार-शक्त्यै नमः' इस मन्त्र से आधारशक्ति का पूजन करे। फिर 'फट्' मन्त्र से आधार को धोकर उसे मण्डल पर रखकर 'ॐ गुरुपात्राधाराय नमः' यह कहकर गन्धाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। तब 'फट्' मन्त्र से पात्र को धोकर उसे आधार के ऊपर

स्थापित करे। उसकी 'ॐ गुरुपात्राय नमः गन्धाक्षतं समर्पयामि' इस मन्त्र से गन्धाक्षत द्वारा पूजा करे। तब उस पात्र में 'ह्रीं' मन्त्र से जल भरे। फिर उसमें 'ॐ गंगे चैव' इत्यादि मन्त्र पढ़कर अंकुश मुद्रा द्वारा सूर्यमण्डल से तीर्थों का आवाहन करे। तव 'ॐ' मन्त्र पढ़कर पात्र के जल में गन्ध, पुष्प, अक्षत तथा शुद्धिखण्डादि और विशेषार्घ्य का द्रव्य छोड़े। फिर धेनु-मुद्रा दिखाकर उस जल को अमृतमय करे। तब पात्र के ऊपर 'ॐ' का दश बार जप करे।

२ **भोगपात्र**—गुरुपात्र के पास भूमि पर त्रिकोण-वृत्त का एक मण्डल बनावे। उसमें गन्धाक्षत से 'ॐ आधार-शक्त्यै नमः' से आधारशक्ति की पूजा करे। फिर 'फट्' मन्त्र से आधार को धोकर उसे मण्डल पर स्थापित करे और 'ॐ भोग-पात्राधाराय नमः' इस मन्त्र से गन्धाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। फिर 'फट्' मन्त्र से पात्र को धोकर उसे आधार पर रखकर 'ॐ भोगपात्राय नमः गन्धाक्षतं समर्पयामि' इस मन्त्र से गन्धाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। फिर 'ह्रीं' मन्त्र पढ़ता हुआ उसमें जल भरे। फिर उसमें 'ॐ गंगे' इत्यादि मन्त्र पढ़कर अंकुश मुद्रा-द्वारा सूर्यमण्डल से तीर्थों का आवाहन करे। तब 'ॐ' मन्त्र पढ़कर पात्र के जल में गन्ध, पुष्प, अक्षत तथा शुद्धिखण्डादि और विशेषार्घ्य का द्रव्य छोड़े। फिर धेनुमुद्रा दिखाकर उस जल को अमृतमय करे। तब पात्र के ऊपर 'ॐ' का दश बार जप करे।

३ **शक्ति-पात्र**—भोगपात्र के पास भूमि पर त्रिकोण-वृत्त का एक मण्डल बनावे। उसमें गन्धाक्षत से 'ॐ आधार-शक्त्यै नमः' से आधारशक्ति की पूजा करे। फिर 'फट्' मन्त्र से आधार को धोकर उसे मण्डल पर स्थापित करे और 'ॐ

शक्तिपात्राधाराय नमः' इस मन्त्र से गन्धाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। तब 'फट्' मन्त्र से पात्र को धोकर उसे आधार पर रखकर 'ॐ शक्तिपात्राय नमः गन्धाक्षतं समर्पयामि' इस मन्त्र से गन्धाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। फिर 'ह्रीं' मन्त्र पढ़ता हुआ उसमें जल भरे। तब उसमें 'ॐ गंगे' इत्यादि मन्त्र पढ़कर अंकुश मुद्रा-द्वारा सूर्यमण्डल से तीर्थों का आवाहन करे। फिर 'ॐ' मन्त्र पढ़कर पात्र के जल में गन्ध, पुष्प, अक्षत तथा शुद्धिखँडादि और विशेषार्घ्य का द्रव्य छोड़े। तब धेनुमुद्रा दिखाकर उस जल को अमृतमय करे। फिर पात्र के ऊपर 'ॐ' का दश बार जप करे।

४ योगिनीपात्र—शक्तिपात्र के पास भूमि पर त्रिकोणवृत्त का एक मण्डल बनावे। उसमें गन्धाक्षत से 'ॐ आधारशक्त्यै नमः' से आधारशक्ति की पूजा करे। फिर 'फट्' मन्त्र से आधार को धोकर उसे मण्डल पर स्थापित करे और 'ॐ योगिनीपात्राय नमः' इस मन्त्र से गन्धाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। तब 'फट्' मन्त्र से पात्र को धोकर उसे आधार पर रखकर 'ॐ योगिनीपात्राय नमः गन्धाक्षतं समर्पयामि' इस मन्त्र से गन्धाक्षत द्वारा उसकी पूजा करे। फिर 'ह्रीं' मन्त्र पढ़ता हुआ उसमें जल भरे। तब उसमें 'ॐ गंगे' इत्यादि मन्त्र पढ़कर अंकुशमुद्रा द्वारा सूर्यमण्डल से तीर्थों का आवाहन करे। फिर 'ॐ' मन्त्र पढ़कर पात्र के जल में गन्ध, पुष्प, अक्षत तथा शुद्धिखण्डादि और विशेषार्घ्य का द्रव्य छोड़े। तब धेनुमुद्रा दिखाकर उस जल को अमृतमय करे। फिर पात्र के ऊपर 'ॐ' का दश बार जप करे।

इसी प्रकार वीर, बलि, पाद्य और आचमनीय पात्रों की क्रमपूर्वक स्थापना करे।*

* सम्प्रदाय तथा देश के भेद के अनुसार गुरु आदि पात्रों की

गुरु आदि का तर्पण—पहले गुरु-चतुष्टय का बाएँ हाथ की तत्त्वमुद्रा में शुद्धि खण्ड तथा दाहने हाथ की ज्ञानमुद्रा में गन्धाक्षत लेकर मस्तक में गुरुपात्रामृत से तर्पण करे। यथा—

श्री अमुकानन्दनाथ श्री गुरु तच्छक्त्यम्बा श्री पादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

श्री अमुकानन्दनाथ श्री परमगुरु तच्छक्त्यम्बा श्री पादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

श्री अमुकानन्दनाथ श्री परापर गुरु तच्छक्त्यम्बा श्री पादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

श्री अमुकानन्दनाथ श्री परमेष्ठिगुरु तच्छक्त्यम्बा श्री पादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

यह तर्पण गुरुपादुका के मन्त्र में यथास्थान गुरुदेवों का नामोल्लेख कर साधक करते हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त विधि से

स्थापना में बहुत अधिक मतभेद है। अतएव इनकी स्थापना अपने गुरुदेव की परिपाटी के अनुसार साधक करते हैं—१ गुरुपात्र, २ भोगपात्र, ३ शक्तिपात्र, ४ योगिनीपात्र, ५ वीरपात्र, ६ बलिपात्र, ७ पाद्यपात्र, ८ आचमनीयपात्र, ९ श्रीपात्र।

यदि नौ पात्रों की स्थापना न कर सके तो सात पात्रों की स्थापना करे। यथा—१ श्रीपात्र, २ गुरुपात्र, ३ भोगपात्र, ४ शक्तिपात्र, ६ बलिपात्र, ७ वीरपात्र।

यदि सात पात्र न स्थापित कर सके तो पाँच पात्र स्थापित करे। यथा—१ श्रीपात्र, २ गुरुपात्र, ३ भोगपात्र, ४ योगिनीपात्र, ५ बलिपात्र।

यदि पाँच पात्र न स्थापित कर सके तो तीन पात्र स्थापित करे। यथा—१ श्रीपात्र, २ गुरुपात्र, ३ भोगपात्र।

हृदयकमल में आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी तथा इष्टदेवता का विशेषार्घ्यामृत से तर्पण करे। यथा—

हसक्षमलवरयूं आनन्दभैरवाय वषट् आनन्दभैरवी श्रीपादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

सहक्षमलवरयीं आनन्दभैरव्यै वौषट् आनन्दभैरवी श्री पादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

मूलं सायुधा सवाहना सपरिवारा श्री महाकालशिव-सहिता श्रीमद्दक्षिणकालिका श्री पादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

उक्त सभी तर्पण एक-एक बार या तीन-तीन बार करे।

तत्त्वशुद्धि

अब साधक तत्वों की शुद्धि के लिये निम्न ऋचाओं को पढ़े—

ॐ प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥१॥

ॐ पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशानि मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥२॥

ॐ प्रकृत्यहङ्कारबुद्धिमनःश्रोत्राणि मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥३॥

ॐ त्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवचांसि मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥४॥

ॐ पाणिपादपायूपस्थशब्दा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥५॥

ॐ स्पर्शरूपरसगन्धाकाशानि मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६॥

ॐ वायुतेजःसलिलभूम्यात्मानो मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥७॥

इन सात ऋचाओं को पढ़कर कारण हाथ में लेकर दोनों हाथों का मार्जन करे। फिर दाहिने हाथ की हथेली में त्रिकोण लिखे। त्रिकोण की दाहिनी ओर बाईं भुजा में तथा अपने सम्मुख और त्रिकोण के बीच में शुद्धि के चार छोटे-छोटे खण्ड रक्खे। फिर बायें हाथ के अँगूठे, मध्यमा और अनामा से दाहिने हाथ की हथेली में रक्खे हुए शुद्धिखण्डों में से सामने का खण्ड उठाकर 'मूलं ह्रीं श्रीं आत्मतत्त्वेन स्थूलदेहं शोधयामि स्वाहा' पढ़कर उसे खा जाय। इसी प्रकार दाहिनी ओर का दूसरा खण्ड उठाकर 'मूलं ह्रीं श्रीं विद्यातत्त्वेन सूक्ष्मदेहं शोधयामि स्वाहा' यह मन्त्र पढ़कर और इसी प्रकार बाईं ओर का खण्ड उठाकर 'मूलं ह्रीं श्रीं शिवतत्त्वेन परदेहं शोधयामि स्वाहा' यह मन्त्र पढ़कर तथा बीच का खण्ड उठाकर 'मूलं ह्रीं श्रीं सर्वतत्त्वेन तनुत्रयाश्रयं जीवं शोधयामि स्वाहा' यह पढ़कर खा जाय। इसके बाद अँगौछे से हाथ पोंछ उन्हें शुद्ध करे। फिर दोनों हाथों से सारी देह को स्पर्श कर शरीर का मार्जन करे।*

बिन्दु-स्वीकार

तदनन्तर साधक विशेषार्घ्यपात्र के द्रव्य का बिंदु एक पात्र में लेकर मूलमन्त्र पढ़कर अथवा 'आर्द्रं ज्वलतीति'† यह

* जहाँ जहाँ 'मूलं' लिखा है, वहाँ अपने इष्टमन्त्र की योजना करनी चाहिये।

† ॐ आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि योऽहमस्मि अहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा।

ऋचा पढ़कर विंदु स्वीकार करे। फिर विशेषार्घ्य पात्र का द्रव्य पूजा की सामग्री पर छिड़के।

पञ्चबलि

इसके बाद जिस चौकी पर यन्त्रराज स्थापित है, उसके चारों ओर पूर्व दिशा के क्रम से त्रिकोण-वृत्त के चार मण्डल बनावे। उनमें बलिदेवताओं को बलि* देने के लिये पूजन करे। यथा—'एं ह्रीं हूं मण्डलाय नमः' इस मन्त्र से उक्त चारों मण्डलों का गन्धाक्षत से पूजन करे।

१—पूर्व के मण्डल में 'वां वटुकाय नमः' इस मन्त्र से वटुक की गन्धाक्षत-पुष्प से मण्डल में पूजा करे। फिर उस मण्डल के ऊपर वटुक बलि स्थापित करे। उसमें जल-पात्र के सहित मांस, मीन, मुद्रा, पुष्प आदि भी रखे। फिर बलिपात्र के द्रव्य से बायें अँगूठे और अनामिका की मुद्रा से मन्त्र पढ़कर बलिपात्र का अमृत छोड़कर बलि प्रदान करे। मन्त्र यह है—'एह्येहि देवीपुत्र वटुकनाथ कपिलजटाभारभास्कर! त्रिनेत्र ज्वालामुख सर्वविघ्नान्नाशय नाशय सर्वोपचारसहितबलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा एष बलिर्वटुकाय नमः'।

२—दक्षिण के मण्डल में 'यां योगिनीभ्यो नमः' इस मन्त्र से योगिनियों का पूजन कर पूर्ववत् बलिभाग मण्डल पर रखकर दाहिने अँगूठे और अनामिका की मुद्रा से उस पर योगिनी पात्र का अमृत गिराता हुआ मन्त्र पढ़कर बलि प्रदान करे। मन्त्र यह है—

ऊर्ध्वं ब्रह्मांडतो वा दिवि गगनतले भूतले निस्तले वा।
पाताले वा पवनसलिलयोर्यत्र कुत्र स्थितो वा॥

---

* प्रायः साधक ये बलियाँ अपनी बाँईं ओर एक ही स्थान पर मण्डल बनाकर देते हैं।

क्षेत्रे पीठोपपीठादिषु च कृतपदा धूपदीपादिकेन।
प्रीताः देव्यः सदा नः शुभबलिविधिना पान्तु वीरेन्द्रवन्द्याः॥

सर्वयोगिनीः ह्रूं फट् स्वाहा। एष बलिर्योगिनीभ्यो नमः।

३—पश्चिम के मण्डल में 'क्षां क्षेत्रपालाय नमः' इस मन्त्र से क्षेत्रपाल का पूजन कर मण्डल पर पूर्ववत् बलिभाग स्थापित करे। बाँयें हाथ की मूठी बाँध कर अँगूठे के ऊपर से बलिपात्र का अमृत गिराता हुआ मन्त्र पढ़कर बलिप्रदान करे। मन्त्र यह है—

क्षां क्षीं क्षूं क्षैं क्षौं क्षः क्षेत्रपालाय धूपदीपसहितं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा एष बलिः क्षेत्रपालाय नमः।

४—उत्तर के मण्डल में 'गां गणेशाय नमः' इस मन्त्र से गणेश का पूजन कर उस पर बलिभाग स्थापित कर उस पर बाँयें हाथ की उंगलियों को दण्डाकार खड़ी कर मध्यमा और अँगूठे की मुद्रा से बलिपात्र का अमृत गिराता हुआ मन्त्र पढ़कर बलि प्रदान करे। मन्त्र यह है—

गां गीं गूं गणपतये विरोधिसर्वजनमेत्र संमारय स्वाहा। एष बलिर्गणपतये नमः।

५—इसके बाद अपनी बाँईं ओर पूर्ववत् बलिमण्डल की रचना करे। उसका 'एं ह्रीं व्यापकमंडलाय नमः' से पूजन कर उसको मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित करे। फिर गन्ध, धूप, दीपादि से उसका पूजन करे। फिर उसमें बलिभाग स्थापित कर तत्त्व-मुद्रा से बलिपात्र से बलिपात्र का अमृत गिराता हुआ मन्त्र पढ़कर बलिप्रदान करे। मन्त्र यह है—

ॐ ह्रीं सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यः हुँ फट् नमः एष बलिः सर्वभूतेभ्यो नमः।

इष्टदेवता का आवाहन और संस्कार

इस प्रकार से पञ्चबलियाँ दे चुकने पर साधक षडङ्गन्यास करे। फिर वह अपने में पूर्ववत् काम-कलारूप की भावना करे। तब हाथ में लाल फूल लेकर कूर्ममुद्रा बनाकर उसे हृदय में स्थापित करे। फिर वह मूलाधारचक्र में कुंडलिनी का ध्यान कर उसे सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार के विंदु में परशिव के पास आई हुई ध्यान करे। तब हृदय के अष्टदल कमल में उसे आई हुई ध्यान कर अपने इष्टदेवता की मूर्ति की कल्पना करे। फिर उस देवी-मूर्ति को सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार के विंदु में ले जाने का ध्यान करे। वहाँ से उसे वायुबीज 'यं' का जप करता हुआ अपने वाम नासा के मार्ग से हाथ के पुष्प में ले आने की भावना करे और पहले से स्थापित यन्त्रराज में उस पुष्प को रख दे और यह भावना करे कि महाकाल शिव सहित दक्षिणा काली यन्त्र के विंदु में आ विराजी हैं। अब साधक यह मन्त्र पढ़े—

ॐ देवेशि भक्तिसुलभे परिवारसमन्विते यावत्त्वां पूजयिष्यामि तावत्त्वं सुस्थिरा भव।

१ आवाहन—इसके बाद साधक निम्न मन्त्र से आवाहनीय आदि मुद्रायें दिखावे—

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इहागच्छ इहागच्छ।
ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह तिष्ठ इह तिष्ठ।
ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सन्निहिता भव इह सन्निहिता भव।
ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सन्निरुद्धा भव इह सन्निरुद्धा भव।

ॐ सांगे श्रीमहाकालशिवसहिते श्री दक्षिणे कालिके इह सम्मुखी भव इह सम्मुखी भव। मम सर्वोपचारपूजां गृहाण गृहाण।

२ प्राणप्रतिष्ठा—इस प्रकार आवाहन कर लेलिहानी मुद्रा द्वारा भगवती की मूर्ति में निम्न मन्त्र पढ़कर जीवन्यास करे—

आं ह्रीं क्रों हंसः श्री दक्षिणाकालिकायाः प्राणाः इह प्राणाः।
आं ह्रीं क्रों हसः श्री दक्षिणाकालिकायाः जीव इह स्थितः।
आं ह्रीं क्रों हंसः श्री दक्षिणाकालिकायाः सर्वेन्द्रियाणि।
आं ह्रीं क्रों हंसः श्री दक्षिणाकालिकायाः वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रघ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।

३ अवगुण्ठन—इसके बाद साधक 'हुँ अवगुंठिता भव' यह पढ़कर अवगुण्ठन मुद्रा से भगवती का अवगुण्ठन करे।

४ सकलीकरण—इसके बाद साधक गन्धाक्षत छोड़ता हुआ देवता का सकलीकरण करे। यथा—

ह्रां हृच्छक्त्यै नमः,
ह्रीं शिरशक्त्यै नमः,
ह्रूं शिखाशक्त्यै नमः,
ह्रैं कवचशक्त्यै नमः,
ह्रौं नेत्रत्रयशक्त्यै नमः,
ह्रः अस्त्रशक्त्यै नमः।

५ परमीकरण—साधक भगवती की मूर्ति के ऊपर महामुद्रा बनाकर उससे सामान्यार्घ्य का जल गिराता हुआ देवता को अभिषिञ्चित करने की भावना करे और कहे—परमीकृता भव। फिर भगवती के सिर के ऊपर दश बार चुटकी बजाकर दशों दिशाओं का बन्धन करे।

६ अमृतीकरण—फिर भगवती को धेनुमुद्रा दिखा कर कहे—अमृतीकृता भव।

७ स्वागत और आसन—इसके बाद दोनों हाथों की अञ्जलि बनाकर भगवती को सम्बोधन कर उनका स्वागत करे और पद्म-मुद्रा दिखाकर फूल रखकर भगवती को बैठने के लिये आसन प्रदान करने की भावना करे। यथा—

दक्षिणे कालिके स्वागतं कुशलमिदमासनमास्यताम्।

८ मुद्रा प्रदर्शन—इसके बाद खड्ग, मुण्ड, वर, अभय तथा योनि आदि मुद्रायें भगवती को दिखावे।

इसके बाद यन्त्रराज में यथा स्थान रश्मिवृन्द आदि का ध्यानपूर्वक आवाहन करे। साधक पहले रश्मिवृन्द का यन्त्रराज के पाँचों त्रिकोणों के पन्द्रहों कोणों में पूर्व दिशा के क्रम से आवाहन करे। यथा—

ॐ काली, कपालिनी, कुल्ला, कुरुकुल्ला, विरोधिनी, विप्रचित्ता, उग्रा, उग्रप्रभा, दीप्ता, नीला, घना, वलाका, मात्रा, मुद्रा, अमितादिरश्मिवृन्ददेवताः इहागच्छन्तु इहागच्छन्तु, इह तिष्ठन्तु, इह तिष्ठन्तु, इह सन्निहिता भवन्तु इह सन्निहिता भवन्तु, इह सन्निरुद्धा भवन्तु इह सन्निरुद्धा भवन्तु, इह सम्मुखीभवन्तु इह सम्मुखीभवन्तु, मम सर्वोपचारपूजां गृह्णन्तु गृह्णन्तु।

इस प्रकार रश्मिवृन्द का आवाहन कर उनका ध्यान करे। यथा—

सर्वाः श्यामा असिकरा मुण्डमालाविभूषणाः।
तर्जनीं वामहस्तेन धारयन्त्यश्च संविताः॥

अब साधक अष्टदलकमल में पूर्वादि दिशा के क्रम से दलों में ब्राह्मी आदि आठ माताओं का ध्यानपूर्वक आवाहन करे—

ब्राह्मी, नारायणी, माहेश्वरी, चामुण्डा, कौमारी, अपराजिता, नारसिंही आदि देव्यः इहागच्छन्तु इहागच्छन्तु, इह तिष्ठन्तु इह तिष्ठन्तु, इह सन्निहिता भवन्तु इह सन्निहिता भवन्तु, इह सन्निरुद्धा भवन्तु इह सन्निरुद्धा भवन्तु, इह सम्मुखीभवन्तु इह सम्मुखीभवन्तु ।

इसके बाद ब्राह्मी आदि माताओं का ध्यान करे । यथा—

१ ब्राह्मी—ब्रह्माणीं हंससंरूढां स्वर्णवर्णां चतुर्भुजाम् ।
चतुर्वक्त्रां त्रिनेत्रां च ब्रह्मकूर्चं च पङ्कजम् ॥
दण्डपद्माक्षसूत्रं च दधतीं चारुहासिनीम् ।
जटाजूटधरां देवीं भावयेत् साधकोत्तमः ॥

२ नारायणी—नारायणीं महादीप्तां श्यामां गरुडवाहिनीम् ।
नानालङ्कारसंयुक्तां चारुकेशां चतुर्भुजाम् ॥
घण्टां शंख कपालं च चक्रं सन्दधतीं पराम् ।
मधुमत्तमदोल्लोलदृष्टिं सर्वाङ्गसुन्दरीम् ॥

३ माहेश्वरी—माहेश्वरीं वृषारूढां शुभ्रां त्रिनयनान्विताम् ।
कपालं डमरुं चैव वरदाभयशूलकम् ॥
टङ्कं च दधतीं देवीं नानाभरणभूषिताम् ।

४ चामुण्डा —

चामुण्डामट्टहासां प्रकटितदशनां भीमवक्त्रां त्रिनेत्रां ।
नीलाम्भोजप्रभाभां प्रमुदितवपुषां नारमुण्डालिमालाम् ॥
खड्गं शूलं कपालं नरशिरघटितं खेटकं धारयन्तीं ।
प्रेतारूढां प्रमत्तां मधुमदमुदितां भावयेच्चण्डरूपाम् ॥

५ कौमारी—कौमारीं कुंकुमप्रभां त्रिनेत्रां शिखिसंस्थिताम्।
चतुर्भुजां शक्तिपाशमंकुशाभयधारिणीम्॥
नानालङ्कारसंयुक्तां प्रमत्तां परिचिन्तयेत्।

६ अपराजिता—अपराजितां च पीताभामक्षसूत्रवरप्रदाम्।
कपालं मातुलाङ्गं च दधतीं परिचिन्तयेत्॥

७ वाराही—वाराहीं धूम्रवर्णां च वराहवदनां शुभाम्।
फलकखड्गमूषलहलवेदभुजैर्युताम्॥

८ नारसिंही—नारसिंही नृसिंहस्य बिभ्रती सदृशं वपुः॥

तदनन्तर असिताङ्ग आदि आठ भैरवों का अष्टदल कमल में पूर्वादि दिशा के क्रम से प्रत्येक दल के अग्रभाग में ध्यान-पूर्वक आवाहन करे। यथा—

भीषणास्यं त्रिनयनमर्द्धचन्द्रविभूषितम्।
स्फटिकाभं कङ्कणादिभूषाशतसमायुतम्॥१॥
अष्टवर्षवयस्कं च कुन्तलोल्लसितं भजे।
धारयन्तं दण्डशूले भैरव्यादिसमायुतम्॥२॥

असिताङ्ग, रुरु, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कपाली, भीषण, संहारभैरवाः इहागच्छन्तु इहागच्छन्तु इत्यादि।

इसके बाद इन्द्रादि दश दिग्पालों का भूपुर की रेखा पर पूर्व दिशा के क्रम से आवाहन करे। यथा—

नीलवर्ण ऐरावतस्थ वज्रहस्त मुकुटधारीसहस्राक्ष इन्द्र,
रक्तवर्ण शक्तिहस्त त्रिनेत्र मेषस्थ अग्नि,
महिषस्थ दण्डपाशधर श्यामवर्ण यम,
श्यामवर्ण खड्गहस्त प्रेतस्थ निऋ्ति,
गौरवर्ण पाशहस्त मकरस्थ वरुण,

नीलवर्ण अंकुशहस्त मृगस्थ वायु,
श्यामवर्ण गदाहस्त मर्त्यस्थ कुबेर,
गौरवर्ण त्रिनेत्र शूलहस्त वृषभस्थ ईशान,

स्वर्णवर्ण हंसस्थ चतुर्वक्त्र त्रिनेत्र अक्षपद्मदण्डकमण्डलुधर यज्ञोपवीतीजटिल ब्रह्मा,

श्यामवर्ण गरुडस्थ शङ्खचक्रगदापद्मधर चतुर्भुज नानालङ्कारभूषित अनन्तप्रभृति दिग्पाला इहागच्छन्तु इहागच्छन्तु—इत्यादि।

इस प्रकार आवारण देवताओं का ध्यानपूर्वक आवाहन कर चुकने पर साधक 'मूलं महाकालसहितां श्री दक्षिणाकालिकां तर्पयामि' यह मन्त्र पढ़कर विशेषार्घ्य पात्र के द्रव्य से भगवती का तत्त्वमुद्रा द्वारा तीन बार तर्पण करे। इसके बाद 'मूलं सायुधाम् सपरिवाराम् महाकालसहिताम् श्रीदक्षिणाकालिकाम् तर्पयामि' इस मन्त्र से भगवती का तीन बार फिर तर्पण करे।

साधक अब भगवती का षोडशोपचार पूजन करने के लिये प्रस्तुत होवे परन्तु इसके पहले वह भगवती की दक्षिण दिशा में महाकाल की षोडशोपचार या पञ्चोपचार से पूजा करे। प्रथम वह उनका हाथ जोड़कर ध्यान करे। यथा—

कोटिकालानलाभासं चतुर्बाहुं त्रिलोचनम्।
श्मशानाष्टकमध्यस्थम् मुण्डाष्टकविभूषितम्॥
पञ्चप्रेतस्थितं देवं त्रिशूलं डमरुं तथा।
खड्गञ्च खर्परञ्चैव वामदक्षिणयोगतः॥
बिभ्रतं सुन्दरं देहं श्मशानभस्मशोभितम्।
नानाशवैः क्रीडमानं कालिकां हृदयस्थितम्॥

लालयन्तं रतासक्तं घोरचुम्बनतत्परम् ।
गृध्रगोमायुसंयुक्तं भैरवीगणसंयुतम् ॥
जटापटलशोभाढ्यं सर्वशून्यालये स्थितम् ।
सर्वशून्यं मुण्डभूषं प्रसन्नवदनं शिवम् ॥

इस प्रकार ध्यान कर साधक महाकाल का पञ्चोपचार से उनके मूलमन्त्र* द्वारा पूजन करे। यथा—

मूलं श्री महाकालाय नमः गन्धं समर्पयामि ।
मूलं श्री महाकालाय नमः पुष्पं समर्पयामि ।
मूलं श्रीमहाकालाय नमः धूपं समर्पयामि ।
मूलं श्री महाकालाय नमः दीपं समर्पयामि ।
मूलं श्री महाकालाय नमः नैवेद्यं समर्पयामि ।
मूलं श्री महाकालाय नमः आचमनीयं समर्पयामि ।
मूलं श्री महाकालाय नमः ताम्बूलं समर्पयामि ।

अब साधक योनिमुद्रा से महाकाल को नमस्कार करके भगवती का षोडशोपचार पूजन प्रारम्भ करे। यथा—

षोडशोपचार पूजन

१ पाद्य—'मूलं श्रीदक्षिणकालिकायै नमः पादयो पाद्यं समर्पयामि' यह कहकर चरणों में पाद्य-पात्र या सामान्यार्घ्य का जल अर्पित करे। (अनामा अंगुष्ठ से)

---

*महाकाल का मन्त्र—

ॐ ह्रौं यां रां लां वां क्रौं महाकालभैरव सर्वविघ्नान् नाशय नाशय ह्रीं श्रीं फट् स्वाहा ।

२ अर्घ्य—'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः इदं अर्घ्यं स्वधा' से भगवती के शिर पर शङ्ख-पात्र का जल अर्पित करे। (सब अँगुलियों की मुद्रा से)

३ आचमन—'मूलं श्रीदक्षिणाकालिकायै नमः आचमनीयम् स्वधा' से आचमनीय पात्र या सामान्यार्घ्य का जल श्रीमुख में आचमन के लिये प्रदान करे। (अनामा मध्यमा अंगुष्ठ से)

४ मधुपर्क*—'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः इदं मधुपर्कं स्वधा' से मधुपर्क श्रीमुख में प्रदान करे। (अधोमुखी अनामा अंगुष्ठ से)

पुनः आचमनीय—'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः इदं शुद्ध आचमनीयम् समर्पयामि स्वधा' से आचमनीय पात्र या सामान्य-अर्घ्य का जल श्री मुख में आचमन के लिये पुनः प्रदान करे। (अनामा, मध्यमा, तर्जनी, अंगुष्ठ से)

५ स्नान—अब साधक भगवती को 'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः' यह पढ़कर ज्ञान-मुद्रा से उन पर गंधाक्षत छोड़ कर उन्हें पृथक् स्थान में कल्पित स्नान मण्डप में ले जाने की भावना करे। वहाँ वह 'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः उद्वर्तनार्थे हरिद्रातैलं समर्पयामि' यह पढ़कर उन पर गंधाक्षत छोड़कर हल्दी तेल लगाने की भावना करे। फिर वह 'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः' यह पढ़कर कनिष्ठा-रहित दाहिने हाथ की मूठमुद्रा उन्हें दिखाकर सामान्यार्घ्य का जल छोड़कर उनको स्नान कराने की भावना करे। फिर वह मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः' यह पढ़कर ज्ञान-मुद्रा से उन पर अक्षत छोड़कर सूखे कपड़े से उनके अङ्ग पोछने की भावना करे।

---

* मधु, घृत, दधि, दुग्ध का मिश्रण।

६ वस्त्र—'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः इदं वस्त्रं उत्तरीयम् च निवेदयामि' यह कहकर शुद्ध रेशमी लाल रङ्ग का वस्त्र पहनने को प्रदान करे अथवा ज्ञान-मुद्रा से उन पर अक्षत छोड़कर उसे पहनाने की भावना करे। (अंगुष्ठ, अनामा, मध्यमा से)

७ आभूषण—'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः इमानि भूषणानि निवेदयामि' से आभूषण प्रदान करे अथवा ज्ञान-मुद्रा से अक्षत छोड़कर भिन्न-भिन्न अङ्गों में उपयुक्त रत्नजटित सोने के आभूषण पहनाने की भावना करे। (अंगुष्ठ अनामा से) आभूषण पहना चुकने पर साधक 'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः' यह कहकर ज्ञानमुद्रा से उन पर अक्षत छोड़कर यह भावना करे कि भगवती स्नान-मण्डप से निकल मंद गति से चलकर श्री चक्र में अपने स्थान पर प्रसन्न मन से आ विराजी हैं।

८ गन्ध—'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः इदं गंधं समर्पयामि' यह कहकर भगवती के अङ्गों में अष्टगंध प्रदान करे। (मध्यमा, अनामा, अंगुष्ठ से)

९ पुष्प—'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै वौषट् इमानि बिल्वपत्रसहितपुष्पाणि समर्पयामि' यह कहकर भगवती को बिल्वपत्र सहित पुष्प, पुष्पहार आदि प्रदान करे। (अंगुष्ठ, तर्जनी की मुद्रा से)

अक्षत—'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै वौषट् स्वयम्भूकुसुमादिकं अक्षतानि च समर्पयामि' यह कहकर भगवती को अक्षत तथा स्वयम्भू कुसुमादि प्रदान करे। (सब अँगुलियों के संयोग से बनी मुद्रा से)

१० धूप—सामान्यार्घ्य के जल से धूप-पात्र का 'फट्'

मंत्र से प्रोक्षण करे। उसमें अग्नि रखकर और धूप छोड़कर उसका 'नमः' मंत्र से गंधाक्षत पुष्प से पूजन करे। फिर उसे भगवती के सामने स्थापित कर बाईं तर्जनी से उसको स्पर्श करे। तब 'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः धूपं निवेदयामि' कहे। फिर उस पर विशेषार्घ्य का द्रव्य छोड़कर उसे भगवती को प्रदान करे। तब 'ॐ गजध्वनि मन्त्रमातः स्वाहा' यह मंत्र पढ़कर गंधाक्षत पुष्प से घण्टा का पूजन करे। फिर बाएँ हाथ में घण्टा लेकर उसे बजाता हुआ मध्यमा, अनामिका और अँगूठे की मुद्रा से धूपपात्र उठाकर भगवती को धूप प्रदान करता हुआ साधक देवता की गायत्री तथा मूलमंत्र का जपकर तीन बार धूप-पात्र घुमाकर धूप प्रदान करे। (धूप पात्र देवता के बाएँ रखे)

११ दीप—सामान्य अर्घ्य के जल से दीप-पात्र का 'फट्' मंत्र से प्रोक्षण कर उसमें बत्ती रखकर उसे जलावे। फिर 'नमः' मंत्र से गंधाक्षत और पुष्प से उसका पूजन कर देवता के सामने रखकर बाईं मध्यमा से छूकर 'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः दीपं निवेदयामि' कहे। फिर विशेषार्घ्य का द्रव्य उस पर छोड़कर घण्टा बाएँ हाथ में लेकर उसे बजाता हुआ मध्य अनामिका के बीच में दीप-पात्र पकड़ और उस पर अँगूठा रखकर तीन बार घुमाकर आरती करता हुआ और मूलमंत्र तथा गायत्री का जप करता हुआ दीप प्रदान करे। फिर उसे देवता के दाहने रखे।

१२ नैवेद्य—इसके बाद साधक पहले एक पात्र में कारण लेकर देवता के सम्मुख आधार पर रख 'ॐ कालि ! कालि ! महाकालि ! हूँ हूँ अमृतमासवं विधिवत् कुरु कुरु स्वाहा'—इस मन्त्र को सात बार पढ़ते हुए पात्र के ऊपर हाथ रखकर कारण को अभिमन्त्रित करे। फिर

ग्रासमुद्रा से पात्र को उठाकर दाहिने हाथ में शुद्धिखंड आदि लेकर दोनों हाथों को एक दूसरे से मिला कर दोनों वस्तुएँ देवता को निम्न मन्त्र पढ़कर निवेदित करे— 'मूलं शुद्ध्यादिसहितमासवं निवेदयामि' यह मन्त्र पढ़कर साधक यह भावना करे कि देवता ने शुद्धि सहित आसव का पान किया है। फिर वह पात्र और शुद्धिखंड को आधार पर रख दे।

इसके बाद नैवेद्य के पदार्थ स्वर्ण आदि किसी सुन्दर पात्र में लेकर अपने सामने त्रिकोण के मण्डल पर रखे। फिर 'हुं' मन्त्र से अवगुण्ठन मुद्रा द्वारा उसका अवगुण्ठन करे। वायु-बीज 'यं' का उसके ऊपर १६ बार जपकर उसके दोषों का शोषण करे। फिर अग्निबीज 'रं' का १६ बार जप कर उन दोषों को जला दे। तब 'वं' वरुणबीज का १६ बार जप करता हुआ धेनुमुद्रा दिखाकर उसे अमृतमय करे। फिर उसके ऊपर सात बार मूलमन्त्र का जप करे। तब बाएँ अँगूठे से नैवेद्यपात्र को स्पर्श किये हुए—'नैवेद्यं निवेदयामि' यह कहकर दाहिने हाथ की तत्त्वमुद्रा से उस पर सामान्यार्घ्य का जल छोड़कर देवता को नैवेद्य निवेदित करे। इसके बाद एक पात्र में जल लेकर 'मूलं श्री दक्षिणाकालिकायै नमः इदं जलं निवेदयामि' यह पढ़कर नैवेद्य के पास उसे आधार पर रख दे। 'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा' आदि मन्त्र पढ़ता हुआ पाँचों मुद्राएँ क्रम से दिखाता हुआ अन्त में बाएँ हाथ से ग्रासमुद्रा दिखाकर यह भावना करे कि देवता प्रसन्न मन होकर भोजन कर रहा है।

जब साधक यह समझ ले कि देवता पूर्ण रूप से भोजन करके पानी पी चुका है तब वह उसको पुनः आचमन करावे।

१३—पुनः आचमन—'मूलं श्रीदक्षिणाकालिकायै स्वधा

आचमनीयं समर्पयामि' यह पढ़कर आचमनीय पात्र या सामान्यार्घ्य का जल देवता के मुख में आचमन के लिये प्रदान करे।

१४ ताम्बूल--देवता को अब साधक ताम्बूल प्रदान करे। कर्पूरादि सुगन्धि द्रव्य पड़े हुए ताम्बूल एक पात्र में रख उसे बाएँ अँगूठे से स्पर्श कर 'ताम्बूलं निवेदयामि' यह कह सामान्यार्घ्य का जल छोड़ कर निवेदन करे और भावना द्वारा देवता के मुख में पान खिला दे।

१५-१६ तर्पण-नमस्कार—अब साधक विशेषार्घ्य के द्रव्य से देवता का तीन बार तर्पण करे। यथा—मूलं सांगा सपरिकरा श्रीदक्षिणाकालिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा। फिर योनिमुद्रा दिखाकर नमस्कार करे।

आवरण पूजा

इस प्रकार भगवती का षोडशोपचार पूजन करके साधक हाथ जोड़कर भगवती से यन्त्रराज में उनके आवरणों की पूजन करने के लिये निम्न वाक्य कहकर आज्ञा माँगे--

'श्री दक्षिणे कालिके आवरणं ते पूजयामि।'

प्रथम आवरण—साधक हाथ में फूल लेकर—'ॐ प्रथमआवरणदेवताभ्यो नमः' यह मन्त्र पढ़कर प्रथम त्रिकोण में पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। साधक उक्त त्रिकोण के आग्नेय, ईशान, वायव्य, नैऋत्य के कोणों में, मध्य में और सब दिशाओं में षडङ्ग देवताओं का ध्यान करता हुआ क्रमपूर्वक विशेषार्घ्य के द्रव्य द्वारा तर्पण करे। षडङ्गों का ध्यान यह है—

तुषारस्फटिकश्यामनीलकृष्णारुणार्चिषः ।
वरदाभयधारिण्यः प्रधानतनवस्त्रियः ॥

उनके मन्त्र ये हैं—

ह्रां हृदयशक्ति	श्रीपा०	पू०	नमः	त०	स्वाहा	(आग्नेय कोण में)।
ह्रीं शिरशक्ति	"	"	"	"	"	(ईशान कोण में)।
ह्रूं शिखाशक्ति	"	"	"	"	"	(वायव्य कोण में)।
ह्रै कवचशक्ति	"	"	"	"	"	(नैर्ऋत्य कोण में)।
ह्रौं नेत्रशक्ति	"	"	"	"	"	(मध्य में)।
ह्रः अस्त्रशक्ति	"	"	"	"	"	(सब दिशाओं में)।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम्॥

'सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तु' यह पढ़कर त्रिकोण के बिंदु में विशेषार्घ्य का द्रव्य अर्पित करे।

द्वितीय आवरण—अब साधक प्रथम त्रिकोण के ऊपर वायव्य कोण से ईशान कोण तक पाँच रेखाओं की कल्पना करे और उन रेखाओं पर यथा क्रम पूजन-तर्पण करे। पहले वह हाथ में पुष्पाञ्जलि लेकर 'ॐ द्वितीयावरणदेवताभ्यो नमः' यह मन्त्र पढ़कर उन रेखाओं पर पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। फिर प्रथम रेखा में गुरु चतुष्टय का, द्वितीय रेखा में दिव्यौघ गुरुओं का, तृतीय रेखा में सिद्धौघ गुरुओं का और चतुर्थ रेखा में मानवौघ गुरुओं का तथा पाँचवीं रेखा में कुलगुरुओं का गुरुपात्र से पूजन-तर्पण करे। यथा—

प्रथम पंक्ति में—

श्रीगुरु अमुकानन्दनाथ तच्छक्त्यम्बा श्रीपादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

श्री परमगुरु अमुकानन्दनाथ तच्छक्त्यम्बा श्री पादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

परापरगुरु अमुकानन्दनाथ तच्छक्त्यम्बा श्रीपादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

श्रीपरमेष्ठिगुरु अमुकानन्दनाथ तच्छक्त्यम्बा श्रीपादुकां पूजयामि नमः तपयामि स्वाहा।

द्वितीय पंक्ति में—

श्री महादेव्यःम्बा	श्रीपादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
श्री महादेवानन्दनाथ	"	"	"	"	"
श्री त्रिपुराम्बा	"	"	"	"	"
श्री त्रिपुरभैरवानन्दनाथ	"	"	"	"	"

तृतीय पंक्ति में—

श्री ब्रह्मानन्दनाथ	श्रीपादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
श्री पूर्णदेवानन्दनाथ	"	"	"	"	"
श्री चलचित्तानन्दनाथ	"	"	"	"	"
श्री लोचनानन्दनाथ	"	"	"	"	"
श्री कुमारानन्दनाथ	"	"	"	"	"
श्री क्रोधानंदनाथ	"	"	"	"	"
श्री वरदानंदनाथ	"	"	"	"	"
श्री स्मरदीपानंदनाथ	"	"	"	"	"
श्री मायाम्बा	"	"	"	"	"
श्री मायावत्यम्बा	"	"	"	"	"

चतुर्थ पंक्ति में—

श्री विमलानन्दनाथ	श्रीपादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
श्री कुशलानंदनाथ	"	"	"	"	"
श्री भीमसूरानंदनाथ	"	"	"	"	"

श्री सुधाकरानंदनाथ	श्रीपादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
श्री मीनानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री गोरक्षकानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री भोजदेवानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री प्रजापत्यानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री मूलदेवानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री रन्तिदेवानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री विघ्नेश्वरानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री हुताशनानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री समरानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री सन्तोषानदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,

पञ्चम पंक्ति में—

श्री प्रह्लादानंदनाथ	श्रीपादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
श्री सकलानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री कुमारानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री वशिष्ठानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री क्रोधानदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री सुखानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्री ध्यानानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,
श्रा बोधानंदनाथ	,,	,,	,,	,,	,,

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम् ॥

'सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तु' कहकर पूर्ववत् द्रव्य छोड़े ।

तृतीय आवरण—हाथ में पुष्पाञ्जलि लेकर 'ॐ तृतीयावरणदेवताभ्यो नमः' यह मन्त्र पढ़कर पाँचों त्रिकोणों पर

पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। पाँचों त्रिकोणों के प्रत्येक कोण में पूर्वादि दिशा के क्रम से वामावर्त्त से पन्द्रहों रश्मियों का पूजन और योगिनी पात्र के द्रव्य से तर्पण करे।

प्रथम त्रिकोण में—

ॐ काली	श्रीपादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
ॐ कपालिनी	"	"	"	"	"
ॐ कुल्ला	"	"	"	"	"

द्वितीय त्रिकोण में—

ॐ कुरुकुल्ला	पादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
ॐ विरोधिनी	"	"	"	"	"
ॐ विप्रचित्ता	"	"	"	"	"

तृतीय त्रिकोण में—

ॐ उग्रा	पादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
ॐ उग्रप्रभा	"	"	"	"	"
ॐ दीप्ता	"	"	"	"	"

चतुर्थ त्रिकोण में—

ॐ नीला	पादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
ॐ घना	"	"	"	"	"
ॐ वलाका	"	"	"	"	"

पञ्चम त्रिकोण में—

ॐ मात्रा	पादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा
ॐ मुद्रा	"	"	"	"	"
ॐ मिता	"	"	"	"	"

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं तृतीयावरणार्चनम्।

'सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तु' से पूर्ववत् द्रव्य छोड़े।

चतुर्थ आवरण—हाथ में पुष्पाञ्जलि लेकर 'ॐ चतुर्थावरणदेवताभ्यो नमः' यह पढ़कर अष्टदलकमल चक्र में अर्पित करे। चक्र के दलों में ब्राह्मी आदि आठों माताओं का ध्यानपूर्वक पूजन शक्तिपात्र के द्रव्य से तर्पण करे।

ॐ आं ब्राह्मी श्रीपा० पू० नमः	त०	स्वाहा	(पूर्व में)
ॐ ईं नारायणी "	"	"	(आग्नेय में)
ॐ ऊं माहेश्वरी "	"	"	(दक्षिण में)
ॐ ॠं चामुंडा "	"	"	(नैॠ त्य में)
ॐ ॡं कौमारी "	"	"	(पश्चिम में)
ॐ ऐं अपराजिता "	"	"	(वायव्य में)
ॐ औं वाराही "	"	"	(उत्तर में)
ॐ अः नारसिंही "	"	"	(ईशान में)

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं चतुर्थावरणार्चनम् ॥

'सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तु' से पूर्ववत् द्रव्य छोड़े।

पञ्चम आवरण—हाथ में पुष्पाञ्जलि लेकर 'ॐ पञ्चमावरणदेवताभ्यो नमः' यह पढ़कर अष्टदल चक्र के दलों में अर्पित करे। चक्र के दलों के अग्रभाग में पूर्वादि दिशाओं के क्रम से असिताङ्ग आदि आठ भैरवों का पूजन और वीरपात्र के द्रव्य से तर्पण करे। प्रत्येक नाम के आदि में 'ऐं ह्रीं' बीज भी जोड़ ले। यथा—

अं असितांगभैरव श्रीपा० पू० नमः	त०	स्वाहा	(पूर्व में)
इं रुरुभैरव	"	"	(आग्नेय में)
उं चण्डभैरव	"	"	(दक्षिण में)
ॠं क्रोधभैरव	"	"	(नैॠ त्य में)

लं उन्मत्तभैरव	श्रीपादु० पूज० नमः	तर्प० स्वाहा	(पश्चिम में)
एं कपाली भैरव	"	"	(वायव्य में)
ओं भीषणभैरव	"	"	(उत्तर में)
अं संहारभैरव	"	"	(ईशान में)

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं पञ्चमावरणार्चनम्॥

'सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तु' से पूर्ववत् द्रव्य छोड़े।

षष्ठ आवरण—हाथ में पुष्पाञ्जलि लेकर 'ॐ षष्ठावरणदेवताभ्यो नमः' यह पढ़कर भूपुर की रेखा पर दशों दिशाओं में अर्पित करे। भूपुर में पूर्वादि क्रम से इन्द्रादि दिग्पालों का पूजन और वीरपात्र के द्रव्य द्वारा तर्पण करे।

नां इन्द्र	श्रीपा० पू० नमः	त० स्वाहा	(पूर्व में)
वां वह्नि	"	"	(आग्नेय में)
यां यम	"	"	(दक्षिण में)
क्षां निऋति	"	"	(नैऋत्य में)
वां वरुण	"	"	(पश्चिम में)
यां वायु	"	"	(वायव्य में)
शां कुवेर	"	"	(उत्तर में)
हां ईशान	"	"	(ईशान में)
ह्रीं अनन्त	"	"	(निऋति और वरुण के बीच में)
आं ब्रह्मा	"	"	(इन्द्र और ईशान के बीच में)

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं षष्ठावरणार्चनम्॥

'सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्दु' से पूर्ववत् द्रव्य छोड़े।

सप्तम आवरण—हाथ में पुष्पाञ्जलि लेकर 'ॐ सप्तमा-वरणदेवताभ्यो नमः' यह पढ़कर भूपुर की रेखा के बाहर दशों दिशाओं में उसे अर्पित करे। भूपुर की रेखा के प्रत्येक देवता के सामने उनके अस्त्र का पूजन और वीरपात्र के द्रव्य से तर्पण करे। यथा—

वं वज्र	श्रीपादुकां	पूजयामि	नमः	तर्पयामि	स्वाहा	(पूर्व में)
शं शक्ति	"	"	"	"	"	(आग्नेय में)
दं दण्ड	"	"	"	"	"	(दक्षिण में)
खं खड्ग	"	"	"	"	"	(नैऋर्त्य में)
पां पाश	"	"	"	"	"	(पश्चिम में)
अं अंकुश	"	"	"	"	"	(वायव्य में)
गं गदा	"	"	"	"	"	(उत्तर में)
शूं शूल	"	"	"	"	"	(ईशान में)
पं पद्म	"	"	"	"	"	(निऋति और वरुण के बीच में)
चं चक्र	"	"	"	"	"	(इन्द्र और ईशान के बीच में)

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं सप्तमावरणार्चनम्॥

'सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तु' से पूर्ववत् द्रव्य छोड़े।

इस प्रकार आवरण पूजन कर यन्त्र के विंदु में स्थित देवता को द्रव्य से तीन बार पुनः तर्पण करावे। यथा—मूलं सांगा सपरिकरा सायुधा महाकाल शिवसहिता श्रीदक्षिणा कालिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः तर्पयामि स्वाहा।

इसके बाद देवी के अस्त्रों का पूजन-तर्पण करे। यथा—

ऊपर के बाएँ हाथ में खं खड्ग पू० नमः त० स्वाहा
नीचे के बाएँ हाथ में मुं मुण्ड " "
ऊपर के दाएँ हाथ में अं अभय " "
नीचे के दाएँ हाथ में वं वर " "

इसके बाद साधक षडङ्गन्यास करे। फिर भगवती का हाथ जोड़कर ध्यान करे। फिर वह गन्धादि से पूर्ववत् उनका पूजन करे—तब पहले की तरह धूप, दीप आदि का संस्कार और पूजन कर घण्टा बजाता हुआ क्रम से देवी को धूप और दीप प्रदान करे। फिर पहले ही की भाँति पुनः देवी को पान-पात्र देकर संस्कारपूर्वक नैवेद्य प्रदान करे। तब आचमन एवं ताम्बूल देकर मन्त्रपूर्वक तीन पुष्पाञ्जलियाँ प्रदान करे। इसके बाद भगवती का पुनः पूर्ववत् तीन बार पूजन तर्पण करे।

नीराजन—अब साधक भगवती का नीराजन करे। आटे के बने हुए दीपकों में फूलबत्ती लगाकर उन्हें एक थाली में गोलाकार स्थापित करे। फिर पूर्वादि क्रम से एक-एक फूलबत्ती में एक-एक रत्न का पूजन करे। यथा—

(१) ग्लूं गगनलोक गोमेदकरत्नाय ग्लूं नमः।
(२) स्लूं स्वर्गलोक सुवर्णरत्नाय स्लूं नमः।
(३) म्लूं मर्त्यलोक माणिक्यरत्नाय म्लूं नमः।
(४) प्लूं पाताललोक पद्मरागरत्नाय प्लूं नमः।
(५) न्लूं नागलोक नीलरत्नाय न्लूं नमः।

इन मंत्रों से पूर्वादि दिशाओं में और मध्य में उन रत्नों का गन्धाक्षत पुष्प से पूजन करे और चक्रमुद्रा दिखावे। फिर आचमनीय पात्र में सामान्यार्घ्य का जल लेकर—

ॐ समस्तचक्रचक्रेशियुते देवि नवात्मिके।
आरार्तिकमिदं तुभ्यं गृहाण परमेश्वरि॥

यह मंत्र पढ़कर जल छोड़कर समर्पण करे। तब अपने भीतर और बाहर के तेज के एकीभूत होने की भावना करे। तब वह खड़े होकर दीपक-पात्र उठाकर भगवती के पैर से लेकर शिर तक दीपक-पात्र को दश बार गोलाकार घुमाकर भगवती का नीराजन करे।

इसके बाद साधक उत्तर दिशा में एक त्रिकोण बनावे। एक पात्र में मांस, तिल, रक्तपुष्प, भात एक में मिलाकर रखे। फिर उस पात्र को आधार सहित उस त्रिकोण पर स्थापित करे। फिर 'ॐ ह्रीं श्रीं दक्षिणा कालिकायै स्वाहा एष बलिर्नमः" यह मंत्र पढ़ता हुआ विशेषार्घ्य का अमृत बलि के ऊपर छोड़कर भगवती को बलि प्रदान करे। फिर वहाँ से उसे उठाकर नैऋर्त्यकोण में रख दें। इस अवसर पर कोई कोई साधक शिवाबलि भी करते हैं।

इसके बाद साधक प्राणायाम, ऋष्यादिन्यास, करन्यास, षडङ्गन्यास आदि करके पूर्ववत् कामकला की अपने में ध्यानपूर्वक भावना करे। फिर सहस्रदल की कर्णिका में श्री गुरुदेव का ध्यान करे। तब हृदय कमल में इष्टदेवता का ध्यान करे। यथा—

ध्यान—

सद्यश्छिन्नशिरः कृपाणमभयं हस्तैर्वरं बिभ्रतीं ।
घोरास्यां शिरसां स्रजा सुरुचिरामुन्मुक्तकेशावलिं ॥
सृक्कासृक्प्रवहां श्मशाननिलयां श्रुत्योः शवालंकृतिं ॥
श्यामांगीं कृतमेखलां शवकरैर्देवीं भजे कालिकाम् ॥

भगवती का ध्यान कर चुकने पर साधक पहले कुल्लुका आदि मन्त्रों का जप करे। यथा—

१ कुल्लुका मन्त्र—'क्रों हूँ स्त्रीं ह्रीं फट्' यह मन्त्र शिर पर १२ बार जपे।

२ सेतु मन्त्र—'ॐ' यह मन्त्र हृदय पर १२ बार जपे।

३ महासेतु मन्त्र—'क्रीं' यह मन्त्र कण्ठ पर १२ बार जपे।

४ निर्वाण मन्त्र—'ॐ अं मूलं ऐं अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढ णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं ॐ' यह मन्त्र नाभि में १२ या तीन बार जपे।

५ कामप्रद मन्त्र—'क्लीं' मन्त्र को नाभि पर १२ बार जपे।

६ रक्षा मन्त्र—'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं क्रीं रां रीं रूं रैं रौं रः रमल वरयूं राकिनि मां रक्ष-रक्ष मम सर्वधातून् रक्ष-रक्ष सर्वसत्ववशङ्करि देवि आगच्छागच्छ इमां पूजां गृह्ण-गृह्ण ऐं घोरे देवि घोरे देवि ह्रीं सः परमघोरे घोरस्वरूपे एहि-एहि नमश्चामुण्डे डरलक सहैं श्री दक्षिणे कालिके देवि वरदे विद्ये' यह मन्त्र शिर पर १२ बार जपे।

इस प्रकार कुल्लुकादि मन्त्रों का जप कर चुकने पर साधक विहित माला लेकर गन्धाक्षत आदि से उसका पूजन और नमस्कार कर ध्यानपूर्वक अपने इष्टमन्त्र का १०८ बार जप करे। जप कर चुकने पर साधक पुनः प्राणायाम करे।

इसके बाद वह सामान्यार्घ्य का जल और पुष्पादि हाथ में लेकर—ॐ गुह्यातिगुह्य गोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतम् जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देवि ! त्वत्प्रसादात् सुरेश्वरि ॥

यह मन्त्र पढ़ता हुआ जपफल को तेजरूप में भगवती के दाहिने हाथ में समर्पित करने की भावना करते हुए अपने हाथ के जल और पुष्प को छोड़ दे।

जप समर्पण करने के बाद साधक स्तव-पाठ द्वारा देवता की स्तुति करे। फिर मन्त्र पढ़ता हुआ देवता की तीन बार प्रदक्षिणा करे। तब देवता के शिर पर पुष्प अर्पित कर साष्टांग प्रणाम करे।

मण्डल-पूजन

तदनन्तर साधक सामयिकों को यथाक्रम पंक्त्याकार अथवा चक्राकार शक्ति-सहित पृथक्-पृथक् आसनों पर समासीन करे। यदि गुरुदेव उपस्थित हों तो सर्वप्रथम चन्दन, अक्षत, पुष्प से गुरुदेव का पूजन कर उन्हें गुरुपात्र शुद्धि-सहित प्रदान करे और उन्हें नमस्कार करे। यदि उपस्थित न हों तो गुरुपात्र का द्रव्य जल में विसर्जित कर उसे उसके स्थान पर उलट कर रख दे। फिर शक्तियों की देवीरूप में पूजा कर उन्हें शुद्धि-सहित शक्ति-पात्र का द्रव्य उनके पात्रों में प्रदान कर और शक्तिपात्र को उसके स्थान पर उलट कर रख दे। फिर शिवरूप में वीरों का पूजन कर वीरपात्र का द्रव्य शुद्धि-सहित उन्हें प्रदान करे और उसका भी पूर्ववत् विसर्जन करे। अब सब लोग अपने-अपने पात्र आधार पर स्थापित कर अपने-अपने कल्प के अनुसार आनंदभैरव-आनंदभैरवी, गुरुचतुष्टय और इष्टदेवता का यथा स्थान तथा यथा क्रम पूजन और तर्पण करें। इसके बाद वे तत्त्व शोधन करें। तब पात्र-वन्दनादि पढ़कर अमृत पान कर प्रसाद स्वीकार करें। अमृत पान करते समय मूलमंत्र पढ़ें। अपने को शक्तिशिव समझें और अमृत कुण्डलिनी के मुख में प्रदान करें। यह क्रिया प्रत्येक पात्र के ग्रहण करते समय सभी करें। प्रत्येक पात्र आचार्य से आज्ञा लेकर स्वीकार करें। तर्पण-चर्वण की समाप्ति पर साधक शांतिस्तोत्र का पाठ करे। शांति-पाठ कर चुकने पर वह पूजा का विसर्जन करे।

विसर्जन

अब साधक महाकाल और दक्षिणाकालिका का संयोगावस्था में ध्यान करे और अपने को भगवती के चरण-कमलों में समर्पित कर दे। तब विशेषार्घ्यपात्र को उठाकर भावना द्वारा भगवती के मस्तक के ऊपर गोलाकार घुमाकर—'मूलं श्री दक्षिणाकालिके पराङ्मुखार्घ्यं स्वाहा' यह मंत्र पढ़कर देवता के सिर पर विशेषार्घ्य का कुछ द्रव्य गिराकर अर्घ्य प्रदान करे। फिर उसे यथा स्थान लाकर रख दे। इसके बाद संहारमुद्रा-द्वारा देवता का विसर्जन कर उसे ले जाकर हृदयकमल में स्थापित करे और यह वाक्य कहे—

श्रीदक्षिणाकालिके पूजतासि क्षमस्व।

इसके बाद ईशान कोण में त्रिकोण का मण्डल बनाकर उसमें निर्माल्य से 'ॐ निर्माल्यवासिन्यै नमः' इस मंत्र से निर्माल्यवासिनी का तीन बार पूजन करे। इसके बाद वह आत्म-समर्पण करे। यथा—

ॐ इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थासु कायेन मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा। मदीयञ्च सकलं श्रीदक्षिणाकालिकाचरणे समर्पितमस्तु। ॥ ॐ तत् सत् ॥

इस प्रकार अपने आपको बाहर और भीतर भगवती के श्री चरणों में समर्पित कर चुकने पर साधक पवित्र स्थान में भगवती का निर्माल्य छोड़ दे और उनके नैवेद्य का कुछ अंश ग्रहण करे। तब विशेषार्घ्य का द्रव्य अपने पात्र में लेकर पान करे। फिर उसे उलटकर भूमि पर रख उस पर फूल रखे। फिर

उसे उठा ले और धोकर छिपाकर रख दे। उस स्थान में 'ह्रीं' बीज लिखकर कनिष्ठा से उसकी रज लेकर अपने ललाट में लगावे और यह मंत्र पढ़े—

ॐ यं यं स्पृशति पादेन यं यं पश्यति चक्षुषा।
स एव दासतां याति यदि शक्रसमो भवेत्॥

इसके बाद साधक यन्त्र का लेप लगावे। फिर देवता का नैवेद्य शक्तियों और वीरों को बाँटकर उसे स्वयं भी ग्रहण करे। फिर अपने को शिव रूप समझते हुये सब वीर लोग यथेच्छ सुख से विहार करें।

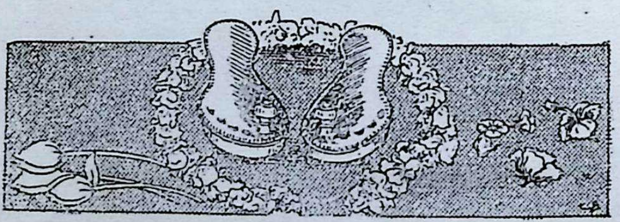

शाक्त-धर्म पर प्रकाश डालनेवाले

दो बेजोड़ प्रकाशन

'साधनमाला' और 'सिद्ध स्तोत्रमाला'

के स्थायी ग्राहक बनकर इनके प्रकाशन-कार्य में
सहायता करिये और लाभ उठाइये

दोनों का वार्षिक मूल्य, रजिस्ट्री डाकव्यय-सहित	२०)
,, सजिल्द पुस्तकों के लिये ,, ,,	२६)

हमारे अन्य प्रकाशन

श्री श्यामा सपर्या वासना	३)	श्री तारा स्वरूप तत्त्व	१)
हिन्दी शाक्तानन्द तरंगिणी	२)	श्री काली नित्यार्चन	२)
मन्त्रसिद्धि का उपाय	१)	आनन्दलहरी	१।)
साधक का संवाद	३।।)	मातृ-उपासना	१।।)
शतचण्डी-विधान	१।।।)	श्री भुवनेश्वरी-नित्यार्चन	२)
वैदिक बगला पूजा पद्धति	१)	विनय-सुधा	१)
बन्दे मातरम्	१)	हिन्दुओं की पोथी	२।)
दुर्गा-सप्तशती	।।)	चक्रपूजा	१।।)
चक्रपूजा के स्तोत्र	।=)	वाममार्ग (नया संस्करण)	२)
काली स्वरूप तत्त्व	।=)	श्री भैरवोपदेश	२।।)
आरति-माला	।=)	उपदेश मुक्तावली	३)
सप्तशती-रहस्य	२।।)	कुछ खरी खरी	२)
श्री भगवती गीता	३)	श्री तारा नित्यार्चन	१।)

पता—कल्याण-मन्दिर, कटरा, प्रयाग २